अंक ११

वैदिक धर्म

वर्ष ३२

नवम्बर १९५१
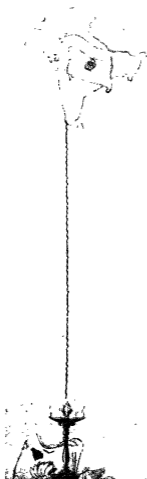
वैदिक धर्म

[नवम्बर १९५१]

संपादक
पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

सहसंपादक
श्री महेशचन्द्र शास्त्री, विद्याभास्कर

विषयानुक्रमणिका

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५) रु.
वी. पी. से ५॥) रु. विदेशके लिये ६॥) रु.

वर्ष ३२ वैदिक-धर्म अंक ११

卐 क्रमांक ३५ 卐

▲ कार्तिक, विक्रम संवत् २००८, नवम्बर १९५१ ▲

वीरोंकी प्रशंसा करें

साह्वा ये सन्ति मुष्टिहेव हव्यो विश्वासु पृत्सु होतृषु ।
वृष्णश्चन्द्रान्न सुश्रवस्तमान् गिरा वन्दस्व मरुतो अह ॥

ऋ० ८।२०।२०

शत्रुको आह्वान देकर–लडनेवाले समस्त सैनिकोंमें रहकर पुनः आह्वान देनेवाले मुष्टियोधी मल्लके समान जो शत्रुका आक्रमण होनेपर उसे सहन करनेमे समर्थ है ऐसे उन बलशाली, चन्द्रके समान आनन्ददायी एवं अत्यन्त निर्मल यशसे युक्त मरुत् वीरोकी ही तुम अपनी वाणीसे प्रशसा करो ।

वीर ऐसे होने चाहिये कि वे शत्रुको आह्वान देकर उनसे लडनेमे समर्थ हो, वे मुष्टियुद्धमें भी प्रवीण हों, शत्रुओंका आक्रमण होनेपर उसे सहन करके अपने स्थानपर स्थिर रह सकनेवाले हों, स्वय अत्यन्त बलवान हों, चन्द्रके समान सबको आनन्द देनेवाले हो तथा निर्मल यशमे युक्त हों । जो वीर ऐसे होंगे वेही सदा प्रशंसनीय हैं । इन्हीकी सर्वदा सबको प्रशंसा करनी चाहिये ।

किमियं मानवता?

(लेखकः— पंडित नोमुल अप्पारायः, कथनकलाप्रपूर्णः)

सर्वेषामपि जनानां सुविज्ञात एवायं विषयः यत् आहारनिद्रादिषु पशूनां नराणां च साम्यमस्तीति। मनुष्यस्तदैव पशुभ्योऽधिक इति वक्तुमर्हो भवति यदा तस्य चेष्टाः पाशविका न भवन्ति, यदा स तु तादृक्कर्मणि निरतो भवति यत् पशुभिः कर्तुं न शक्यते। तादृग्दुर्लभपदवीमधिगन्तुं, तदर्थमेव चेष्टितुमिदं मनुजत्वं लब्धमिति कथने नातिशयोक्तिः। वयमधुना यथार्थदृष्ट्या विचारयामः किमस्माकं प्रवृत्तौ तादृशी मानवता वर्तते वा नास्ति? इति। जनन–भोजन–निद्रा–सन्तान–मरणादिषु यथा पशवश्चरन्ति तथा वयमपि चरामः। आस्तां मूर्खाणां प्रवृत्तिः, विद्यावतां अक्षरास्यानां, अधिगतमहोद्योगानामपि बहूनां जनानां क्रियासु मानवता न दृश्यत इति चिन्ताजनको विषयः। साम्प्रतं तु विद्या धनसंपादनार्थं, वेदान्तविचारस्तु उपन्यासादिकं कर्तुं, उन्नतोद्योगाः परपीडायै, बुद्धिबलं तु परसम्पदपहरणाय, वाक्चातुर्यं तु परान्वंचयितुं, शास्त्रपाण्डितीं तु स्वार्थसिद्ध्यै, बहुमित्रता तु स्वप्रयोजनानि निर्वर्तितुं विनियुज्यन्ते। पूर्वोक्त–कर्म–निर्वहणे मानवत्वं कथं हीयते तदपि न ज्ञातुं शक्नुवन्ति। अहो मानवसमाजस्य पतनावस्था किमिति वर्णनीयम्?।

अतः सोदराः! जागृत, जागृत, आत्मनः पतनावस्थां पश्यत। उत्थितुं सज्जीभवत। पशुतामधः कर्तुं प्रयतत। मानवत्वमधिगन्तुं यत्ता भवत। निकृष्ट–विषय–भोगेषु मा विहरत। सर्वेन्द्रियव्यापारान् परमेश्वर–साक्षात्कारार्थमेव प्रावर्तयत। ज्ञानधनापहरणाय प्रवृत्तान् कामक्रोधमुखान् शत्रून् विजेतुं स्थिरीभवत। ईश्वरप्रदत्तां महानन्ददायिनीं विज्ञानशक्तिं सम्यक्कर्मणि नियोजयत। त्यजत कुमार्गगमनं। भजत सज्जन-गोष्ठीं। भजत ज्ञानसुधासम्पादनार्थं। सफलीं कुरुत मानवत्वं। न विस्मरत वयं मानवा इति।

शान्तिः। शान्तिः। शान्तिः।

आवश्यक सूचनायें

(मध्यप्रान्त (बरार), मध्यभारत, राजस्थान, पंजाब, उत्तरप्रदेश, बिहार एवं आसामके लिये)

आगामी परीक्षायें

१– उपर्युक्त प्रान्तोंके लिये संस्कृत भाषाप्रचार समितिकी परीक्षायें **ता० २-३ फरवरी** (शनि-रवि) सन् १९५२ ई० को होंगी।

२– परीक्षार्थियोंको चाहिये कि वे अपने **आवेदनपत्र ८ दिसम्बर १९५१ ई०** तक केन्द्र व्यवस्थापकको दे दें।

३– केन्द्र व्यवस्थापक महोदय **ता० १४ दिसम्बर १९५१ ई० तक सम्पूर्ण आवेदनपत्र** केन्द्रीय कार्यालय पारडी पहुँचा देवें।

(गुजरात, महाराष्ट्र, हैद्राबादराज्य तथा मद्रासप्रान्तके लिये)

१– उपर्युक्त प्रान्तोंके लिये सं० भा० प्र० समितिकी परीक्षायें **ता० ५-६ अप्रैल (शनि-रवि) सन् १९५२ ई० को होंगी।**

२– परीक्षार्थियोंको चाहिये कि वे अपने **आवेदनपत्र १६ फरवरी १९५१ ई० तक** केन्द्रव्यवस्थापकको दे दें।

३– केन्द्रव्यवस्थापक महोदय **ता० २३ फरवरी १९५१ ई० तक** सम्पूर्ण आवेदनपत्र एकसाथ केन्द्रीय कार्यालय पारडी पहुँचा देवें।

स्वाध्यायमण्डल, आनन्दाश्रम, पारडी (सूरत) की

वेद, उपनिषद् तथा गीता परीक्षायें

परीक्षा समय– ये सभी परीक्षायें संस्कृत भाषा परीक्षाओं के साथही होगी।

केन्द्र– संस्कृतभाषा परीक्षाओंके केन्द्रोंमें ही इन परीक्षाओंका प्रबन्ध होगा। किसी भी परीक्षाके परीक्षार्थी इन केन्द्रोंमें परीक्षा दे सकते हैं।

स्वतन्त्र केन्द्र– जहाँ स्वतन्त्र केन्द्र स्थापित करना हो वहाँ कमसे कम तीन परीक्षार्थियोंका होना आवश्यक है। केन्द्रके लिये कोई भी सार्वजनिक भवन अथवा शिक्षणालय नियत हो सकता है। केन्द्रव्यवस्थापक उस शिक्षणालयके प्रधानाध्यापक अथवा अन्य कोई भी व्यक्ति हो सकते हैं जो इस उत्तरदायित्व को सहर्ष भलिभाँति निभा सकें।

आवेदनपत्र-किसी भी परीक्षाके लिये सीधे आवेदनपत्र भरे जा सकते हैं, किन्तु उसके साथ केन्द्रव्यवस्थापक अथवा किसी भी प्रतिष्ठित व्यक्ति का प्रशस्तिपत्र आना आवश्यक है।

आवेदनपत्र सीधे पारडी कार्यालय से मंगा लेने चाहिये। प्रत्येक आवेदनपत्रका मूल्य ०-४-० आने रखा गया है।

वेद परीक्षाओंका पाठ्यक्रम

१ वेदपरिचय-शुल्क ४-०-० (प्रश्नपत्र २) अंक २०० समय-प्रति प्रश्नपत्र ३ घण्टे, वेदपरिचय, भाग १-२-३, मूल्य ५) रु. संस्कृत पाठमाला, भाग १९-२० मूल्य प्रत्येक ।।' आने वेदका स्वयंशिक्षक (प्रथम भाग) मूल्य १॥) रु.

२ वेद प्रवेश- शुल्क ६-०-० (प्रश्नपत्र ३) अङ्क ३०० समय प्रतिप्रश्नपत्र ३ घण्टे। मरुद्देवताका मन्त्र संग्रह, मूल्य ५) रु, संस्कृत पाठमाला भाग २१-२२ मूल्य प्रत्येकका आठ आना।

अथर्व–भाष्य भाग १ मूल्य ८) वेदका स्वयंशिक्षक भाग २ मूल्य १।।) रु एक निबन्ध (लगभग ३०० शब्दोंका)

३ वेद प्राज्ञ– शुल्क ८-०-० (प्रश्नपत्र ४) अङ्क ४०० समय प्रतिप्रश्नपत्र ३ घण्टे

अश्विनौदेवताका मन्त्र संग्रह मूल्य ५) रु., संस्कृत पाठमाला, भाग २३-२४ प्रत्येकका आठ आना, अथर्व-भाष्य भाग २मूल्य ८)रु.

दो निबन्ध (प्रतिनिबन्ध लगभग ४०० शब्दोंका)

४ वेद-विशारद– शुल्क १०-०-० (प्रश्नपत्र ५) अङ्क ५०० समय प्रतिप्रश्नपत्र ३ घण्टे। वसिष्ठऋषिका दर्शन मूल्य १० तीन निबन्ध (प्रतिनिबन्ध लगभग ५०० शब्दोंका)

५ वेदपारंगत– शुल्क १२–०-०

(प्रश्नपत्र ६) अङ्क ६०० समय प्रति प्रश्न पत्र ३ घण्टे

आर्षेयसंहिता (ऋग्वेदका सुबोध भाष्य) मूल्य २१-८-०

४ निबन्ध (प्रतिनिबन्ध लगभग ६०० शब्दोंका)

६ वेदाचार्य- शुल्क २०-०-० (स्वतन्त्र खोजपूर्ण निबन्ध) लगभग १०० पृष्ठोंका।

निबन्धोंके विषयमें नियम

१ वेदप्रवेश, वेदप्राज्ञ, वेदविशारद एवं वेदपारंगत परीक्षाओंके लिये लिखे हुए निबन्ध परीक्षा–तिथिसे १५ दिवसपूर्व केन्द्रव्यवस्थापक के पास परीक्षार्थी को दे देने चाहिये। केन्द्रव्यवस्थापक महानुभाव उत्तरपुस्तकोंके साथही इन्हे पारडी कार्यालय भिजवादें।

२ निबन्धोंके लिये पाठ्यपुस्तकोंमेसे जो विषय बन सकते है वेही लेने चाहिये।

निबंधोंकी भाषा

निबंन्धोंकी भाषा संस्कृत अथवा हिन्दी होनी चाहिये।

पाठ्यक्रमके अन्तर्गत निम्नाङ्कित विषयोंका भी समावेश होता है। परीक्षार्थी इनसे भी लाभ उठा सकते है। जैसे —

(अ) देवताका स्वरूप, देवताके कार्य, देवताका गुण, देवताका प्रभाव।

(आ) देवताके शत्रु, शत्रुसे और भक्तसे देवताका बर्ताव,

(इ) देवताके शस्त्र, रथ, किले, नगर, युद्ध, सैन्य, अनुयायी, लडाईके प्रकार।

(ई) देवतासे मानवोंको लेने योग्य वैयक्तिक, सामाजिक, राजनैतिक, व्यावहारिक बोध।

(उ) मंत्रोंसे ज्ञात होनेवाली विद्याएँ, भोजन, खानपान, पेय-पदार्थ, वस्त्र, आभूषण।

(ऊ) शरीरोंके अवयवोंका, घरोंका, सार्वजनिक स्थानोंका वर्णन।

(ऋ) स्त्रियोंके सबंधमें जो भी विधान हों उनका संकलन।

(ॠ) जिस समय ये मंत्र मानवोंके जीवनमें ढाले जायँगे, उससमय मानव-समाज कैसा बनेगा और आज कैसा है ?

(ऌ) देवता-वर्णनसे विद्या, कला, हुनर, बल, शौर्य, वीर्य, संघटना आदिमेंसे किसकी सिद्धि होती है ?

इन विषयों की तैयारीके लिये निम्नाङ्कित आगम निबन्ध माला की पुस्तकोंसे भी सहायता ली जा सकती है—

आगम-निबंध-माला

वेद अनंत विद्याओंका समुद्र है । इस वेद-समुद्रका मंथन करनेसे अनेक 'ज्ञानरत्न' प्राप्त होता हैं, इन रत्नोंकी यह माला है ।

१ वैदिक राज्यपद्धति ।) २ मानवी आयुष्य ।=) ३ वैदिक सभ्यता ॥।) ४ वैदिक स्वराज्यकी महिमा ॥।) ५ वैदिक सर्पविद्या॥=) ६ वेदमें चर्खा ॥=) ७ शिवसंकल्पका विजय ॥=) ८ वेदमें रोगजंतु-शास्त्र ।) ९ वेदमें लोहेके कारखाने ॥।) १० इंद्रशक्तिका विकास ॥।)

देवता-परिचय-ग्रंथमाला

१ ऋग्वेदमें रुद्रदेवता ॥=) २ देवता-विचार ।) ३ वैदिक अग्निविद्या २) ४ यजुर्वेद भाष्य अध्याय १-३०-३२-३६-४०,५)

वेदाचार्य परीक्षाके लिये निबंध तो एकही है, पर उसका कलेवर बहुत बडा हैं और खोजका क्षेत्र भी बहुतही विस्तीर्ण है । इस परीक्षार्थीको निबधके विषयोंकी सूचना देनेके लिये कुछ विषय यहा हम लिखते हैं...

१. संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषदोंकी तुलना, २. वेद और भगवद्गीता (तथा अन्य अनेक गीता) ग्रंथोकी तुलना, ३. वेद और स्मृतियोंकी तुलना ४. वेद और महाभारत, रामायण तथा पुराणोकी तुलना, पौराणिक कथाओंके वैदिक मूलकी खोज ५. वेद और तंत्र-ग्रंथोंकी तुलना, ६. वेद और आचार्योंके मतोंकी तुलना, ७. वेद और जेंद-अवस्था, बायबल, कुरान आदिकी तुलना, ८. वेद और बौद्ध तथा जैन आदि मतोंकी तुलना, ९. वेद और साधुसंतोंके वाङ्मयकी तुलना, १०. वेदकी साम्यवाद, समाजवाद, राष्ट्रवाद आदि आधुनिक विचारकोंके विचारोंके साथ तुलना, ११. वेदका राज्य शासन, समाजसंगठन, वैयक्तिक अभ्युदय, मुक्तिका अनुष्ठान, इ० १२. वेदका आदर्श राजा और राज्यशासक, १३. दस्यु. अनार्य, दास, असुर, वृत्र आदिकोंका स्वरूपनिर्णय, १४. वेदमें विवाहकी कल्पना, बाल या प्रौढ, स्वयंवर या अन्य प्रकारके विवाह, १५ चार वर्ण तथा चार आश्रम और वेद, १६. वैदिक यज्ञ, याग, क्रतु, सत्र इ० १७. वेदकी ईश्वरविषयक कल्पना, अनेक देवतावादका निर्णय, १८. वैदिक छन्द, १९. वैदिक ऋषि, ऋषियोंके कुलोंकी खोज और संगति, २०. वेदमंत्रोंमें भूमिके स्थान, नगर, पर्वत, नदियां आदि निर्देश

इत्यादि विषयोंका निर्णय करनेयोग्य उत्तम परिश्रमपूर्वक यह निबंध लिखा जाना चाहिये । ये ही विषय हैं, ऐसा नहीं है, प्रत्युत अन्य सैकडों विषय हो सकते हैं । जो निबंध सरल, सुबोध, सप्रमाण, सयुक्तिक और निश्चित वैदिक सिद्धान्तका प्रतिपादन करनेवाला होगा, उसीको वेदाचार्य उपाधिके लिये योग्य समझा जायगा । इसकी परीक्षा करनेवाले वेदके अनेक विद्वान् होंगे और सर्व-संमतिसेही वेदाचार्यके लिये यह योग्य है या नहीं इसका अन्तिम निर्णय होगा । परीक्षा-समितिका निर्णय अन्तिम होगा । सभी निबंध सुपाठ्य और कागजके एकही ओर लिखे हों । दुष्पाठ्य निबध स्वीकृत नहीं होंगे और न देखें जायँगे । निबंध सब प्रकारसे पसंद हुआ तो उसका प्रकाशन स्वयं स्वा० मंडल करेगा । पर निबधके प्रकाशनके लिये वह बाध्य नहीं समझा जायगा ।

उपनिषद् परीक्षाओंका पाठ्यक्रम

१ उपनिषद् परिचय शुल्क २०० (प्रश्नपत्र १) अङ्क) १०० समय ३ घण्टे (प्रतिप्रश्नपत्र) ईश, केन (सम्पूर्ण)

२ उपनिषद्-प्रवेश- शुल्क ३-०-० (प्रश्नपत्र २) अङ्क २०० समय ३ घण्टे(प्रतिप्रश्नपत्र) कठ,प्रश्न, मुण्डक (सम्पूर्ण)

३ उपनिषद् प्राज्ञ- शुल्क ४-०-० (प्रश्नपत्र ३) अङ्क ३०० समय ३ घण्टे (प्रतिप्रश्नपत्र) माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, श्वेताश्वतर (सम्पूर्ण)

४ उपनिषदालङ्कार- शुल्क ५-०-० (प्रश्नपत्र ४) अङ्क ३०० समय ३ घण्टे (प्रतिप्रश्नपत्र) बृहदारण्यक, छान्दोग्य (सम्पूर्ण)

गीतापरीक्षाओंका पाठ्यक्रम

१ गीतापरिचय- शुल्क १-८-० (प्रश्नपत्र १) अङ्क १०० समय ३ घण्टे (प्रतिप्रश्नपत्र) श्रीमद् भगवद्गीता (पुरुषार्थबोधिनी टीका) १-२ अध्याय

२ गीताप्रवेश- शुल्क २-८-० (प्रश्नपत्र २) अङ्क २००) समय ३ घण्टे (प्रतिप्रश्नपत्र) श्रीमद् भगवद् गीता (पु. बो. टीका) ३-५ अध्याय

३ गीतारत्न- शुल्क ३-८-० (प्रश्नपत्र ३) अङ्क ३०० समय ३ घण्टे (प्रति प्रश्नपत्र) श्रीमद् भगवद्गीता (पु. बो. टीका) ६-११ अध्याय

४ गीतालङ्कार- शुल्क ५-०-० (प्रश्नपत्र ४) अङ्क ४०० समय ३ घण्टे (प्रति प्रश्नपत्र) श्रीमद् भगवत् गीता (पुरुषार्थबोधिनी टीका) सपूर्ण मू. १५)

ॐ

वैदिक अर्थव्यवस्था और स्वामित्वका सिद्धान्त

ब्रह्मा विष्णु महेश

पुराणकारोंने ब्रह्मा विष्णु और महेश ये तीन देव माने हैं और महासरस्वती, महालक्ष्मी और महाकाली ये तीन स्त्री शक्तियां उनके साथ रखी हैं। महासरस्वती 'विद्या' है, महालक्ष्मी 'धनसंपत्ति' है और महाकाली 'संहार-शक्ति' है। यहां धन विष्णुके पास रखा है जो संरक्षक देव है, यह बात विशेष महत्वकी है। संरक्षण तो प्रजाका करना होता है। प्रजाका पालन, प्रजाका संरक्षण, अन्तस्थ और बाहरके शत्रुओंसे प्रजाको सुरक्षित करके प्रजाका उत्तम योगक्षेम चलानेके लिये धन अवश्य चाहिये। इस लिये विष्णुके साथ लक्ष्मी है। यही "लक्ष्मी-नारायणका जोडा" है। नारायण ही विष्णु है। नरोंमें (नर-अयन) जो जाता है, नरोंके सुखदुःखोंका विचार प्रत्यक्ष उनकी स्थिति देखकर जो करता है, नरोंका संरक्षण जो करता है, वही नारायण है। इसीको प्रजारक्षणका कार्य ठीक तरह करनेके लिये धन चाहिये। यह लक्ष्मीनारायणके जोडेका भाव है। विष्णुके पास महालक्ष्मी है, सजी सजायी तरुणी सुन्दर स्त्री है, पर यहां संतान नहीं है। क्योंकि विष्णुभगवान्‌को प्रजारक्षणका कार्य इतना करना पडता है कि उसको अपने घरकी ओर देखनेके लिये भी फुरसत नहीं है, इसलिये उसे संतति नहीं हुई तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। प्रजा संरक्षणका कार्य जो राज्यका अधिकारी इतनी दक्षतासे करेगा, उसीसे प्रजाका संरक्षण उत्तम रीतिसे होगा।

विष्णुकी लक्ष्मी

विष्णुके पास प्रजासंरक्षण करनेके लिये ही संपत्ति है, उसके अपने उपभोगके लिये नहीं। जो धन है वह सब विष्णु प्रजारक्षणके कार्यमें लगाता है। इतना निःस्वार्थ राज्य-शासक होना चाहिये। यह आदर्श पुराणोंके लेखकोंने राजाओंके सामने रखा है। यह आदर्श आजके अपने विषय-के लिये हमें अत्यंत उपयोगी है, इसलिये पाठक इसे यहां अपने स्मरणमें रखें।

आजका मननका विषय "अर्थव्यवस्था और स्वामित्वका सिद्धान्त" है। 'अर्थ' का तात्पर्य 'धन, ऐश्वर्य, संपत्ति, वैभव, पैसा, सुवर्ण, रत्न, आदि पदार्थ, जिनसे मनुष्य अपने आपको धन्य मान सकता है। वह सब अर्थ है।' गौवें, घोडे, रथ, दासदासी, घर, भूमि, स्त्री, पुत्र, राज्य, धनधान्य यह सब धन है। जिसके पास यह होता है वह अपने आपको धन्य मान सकता है। यह धन है और यही अर्थ है। इसकी व्यवस्था वैदिक प्रणालीमें किस तरह थी यह इस मननमें देखना है।

अब 'स्वामित्वका सिद्धान्त' यह है कि जो धन है, उस-पर अधिकार किसका है और वेदमें इस विषयमें क्या कहा है, इसका निर्णय आज देना है। संक्षेपसे 'धन और उसके स्वामी' का विचार आज करना है।

समाजवाद और साम्यवाद

इस समय जगत्‌में 'समाजवाद, साम्यवाद और व्यक्ति-वाद' के आन्दोलन चल रहे हैं। अनेक देशोंके गुट बने हुए हैं और वे अपने सिद्धान्तोंके प्रचारके लिये बडी बडी दलबंदियां करके तथा बडे भयानक घोरसंहारक युद्ध करके, दूसरे पक्षको संपूर्णतया विनष्ट करनेमें लगे हुए हैं। ऐसे घोर समयमें वेदके ऋषि इसका विचार कैसा करते रहे, वैदिक सिद्धान्तको अपने वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रीय व्यवहारमें किस तरह लाते रहे और उन्होंने अपनी अर्थ व्यवस्था किस तरह की थी और धनके ऊपरके अपने स्वा-मित्वके विषयमें उनके अन्दरको विचारधारा कैसी थी, इस विषयमें यदि निश्चित मत जनताके सामने रखा जाय,

तो उसका विशेष उपयोग होगा। इसी उद्देश्यसे यह विषय आज अपने मननके लिये लिया है। पाठक इसका इस दृष्टीसे विचार करें, और जो निश्चय होगा उसका आचार करनेके लिये सिद्ध रहें।

धन किसका है?

वेदमें 'कस्य स्वित् धनं' (यजु० ४०।१) यह एक वचन है। 'किसका भला धन है' अथवा 'भला किसका धन है?' यह इसका उत्तान अर्थ है। हम सबको ही धन किसका है, इसका विचार करना चाहिये। यह प्रश्न इतना सहज स्पष्ट होनेवाला नहीं है। इसलिये ही यह प्रश्न वेदमें पूछा गया है।

'कस्य स्वित् धनं' यहांका 'स्वित्' बडा महत्वका शब्द है।

स्वित् प्रश्ने च वितर्के च। अमर ३।२४१ मेदिनीकोश।

'स्वित्' का अर्थ प्रश्न है और वितर्क है। 'भला किसका धन है?' यह प्रश्न हुआ। विचार करनेवाला इसका उत्तर देवे। 'वितर्क' का अर्थ नाना प्रकारके पक्षों और उपपक्षोंका विवेक है। इस विवेकके स्वरूपमें 'स्वित्' का भाव समझना चाहिये। धन किसका है, यहां क्या धन व्यक्तिका है, अथवा समाजका है, वा जातीका है, या राज्याधिकारीका है, वा विद्वानका है अथवा यज्ञके लिये है, किंवा परमेश्वरका है, ऐसे अनेक प्रश्न उत्पन्न होते हैं, इन प्रश्नोंका विचार करके निर्णय देना चाहिये, इसका सूचक यहांका 'स्वित्' पद है।

'कस्य स्वित् धनं' यह प्रश्न है और विवेक करनेका स्थान भी यही है। अतः इसका सूक्ष्म दृष्टीसे विचार होना चाहिये। 'किसका भला धन है?' यह प्रश्न है। परन्तु अनेक हकदारोंमें एकका धन है वा दूसरेका है, यह तर्क अथवा शंका भी इसमें है।

'स्वित्' का अर्थ 'निश्चय' भी है। इस निश्चयार्थमें 'क' का अर्थ 'प्रजापति' है। 'प्रजापतिर्वै कः' (श. ब्रा.) 'क' का अर्थ प्रजापति है। प्रजापति प्रजाके पालन कर्ताका नाम है। इस अर्थको लेकर 'कस्यस्वित् धनं' का अर्थ 'निःसंदेह सब धन प्रजापालकका है' ऐसा होता है। इस तरह 'कस्य स्वित् धनं' इस एक मंत्र भागके प्रश्न वितर्क और निश्चयरूप तीन अर्थ हुए। ये तीनों अर्थ अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं।

किसका धन है!

'धन किसका है?' यह पहिला अर्थ है। इसमें यह बोधित होता है कि, धनपर अधिकार चलानेवाले अनेक हैं, उनमेंसे धन सचमुच किसका है? क्या हम नहीं जानते कि धनपर अनेक अधिकार नहीं चला रहे हैं! जिसके पास धन है वह तो यह धन 'मेरा' है ऐसा कहता ही है। उसके पुत्र भी कहते हैं कि पिताका धन हमारा है, चोर डाकू लुटेरे कहते हैं कि धन हमारा है, इसके साथ राजा कहता है कि यह धन मेरा है और प्रजासे कर लेकर उस धनको अपने धनकोशमें वह रख भी लेता है।

इतने इसपर स्वामित्व बतला रहे हैं, इसके अतिरिक्त यज्ञकर्ता यज्ञके लिये धनिकोंके पास धन मांगता है और धनी उसको धन देते भी हैं। इस तरह अनेक लोग धनपर अधिकार बताते हैं, इसलिये मंत्रमें पूछा है कि 'कस्य स्वित् धनं?' भला धन किसका है?

निर्बलका धन नहीं

किसी निर्बलके पास धन रहा, तो बलवान आजाता है और उसको थप्पड लगाकर उसका धन अपने पास ले लेता है। इससे धन निर्बलका तो नहीं कहा जा सकता। धन तो बलवानकाही है। क्योंकि निर्बलका धन सबल लूटता है और अपने अधिकारमें कर लेता है। निर्बलका अधिकार तो धनपर निःसंदेह नहीं हो सकता। इसलिये वेदमें अनेक वार कहा है कि—

सुवीरं रयिं आभर।

'उत्तम वीर जिसके साथ संरक्षण करनेके लिये हैं ऐसा धन हमें चाहिये।' अपने घरमें रहनेवालोंके अन्दर वीरता रहे, अथवा अपने पुत्र शूर हों, जो धनका संरक्षण कर सकें। तो वह सुवीरों अथवा वीर पुत्रोंसे संरक्षित धन अपने पास रह सकता है। इसलिये वीरका धन है ऐसा, हम कह सकते हैं।

वीर भी कभी न कभी मर जाता है, और सब धनको यहां छोडकर चला जाता है। इसलिये यह धन उस

वीरका है ऐसा हम कैसा कह सकेंगे ? मरनेके पश्चात् वह धन यहां ही पडा रहता है। इसलिये जैसा निर्बलका धन नहीं है वैसा ही शूरवीरका भी धन नहीं, क्योंकि शूरवीर भी मरते हैं और धन छोडकर चले जाते हैं। फिर किसका भला धन है ?

'प्रजापतिका धन है' (कस्य प्रजापतेः स्वित् धनं) निःसंदेह प्रजापतिका धन है।

यहां शिल्पी आकर कहते हैं हम शिल्पोंका निर्माण करते हैं और हम उन शिल्पोंसे धन निर्माण करते हैं, इसलिये हम धन निर्माण करनेवाले होनेके कारण धन हमारा है। किसान भी ऐसा ही बोलते हैं। खेती हम कर रहे हैं, धान्य हम उत्पन्न कर रहे हैं और ये पूंजीपति घरमें बैठकर सब मक्खन खा रहे हैं। यह नहीं चलेगा। धन उसका है जो जमीनकी सेवा करता है। मजदूरों और किसानोंके संग निर्माण हो रहे हैं और वे कहते हैं कि धन हमारा है।

यहां वैश्य आकर बोलते हैं कि हम धन कारखानोंमें लगाते हैं, कलें और यन्त्र चलाते हैं, देश विदेशमें व्यापार करते हैं, नाना प्रकारकी योजनाएं करते हैं और इनसे धन निर्माण होता है, इसलिये इन योजनाओंको करनेवाले जो हम हैं उनका धन है। हम इन आयोजनाओंका प्रबंध न करेंगे तो शिल्पी मजदूर और किसान अकेले अकेले क्या कर सकेंगे। इसलिये बडी बडी आयोजनाओंका प्रबंध करनेवालोंका धन है।

यहां क्षत्रिय आते हैं और कहते हैं कि हम सबका संरक्षण करते हैं, लूट मार होने नहीं देते, दंगे और युद्ध हुए तो अपने जीवन संकटमें रखकर भी हम तुम सबका और तुम्हारी सब आयोजनाओंका संरक्षण करते हैं। हम न रहें तो 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' होगी और बली गुण्डे निर्बलोंको खा जायंगे। इस कारण हमारे प्रयत्नोंसे धनका संरक्षण हो रहा है इसलिये धनपर हमारा अधिकार है।

इसमें ब्राह्मण भी आकर कहते हैं कि हम पूजा पाठ, यज्ञ याग आदि करते हैं, दैवताओंकी शक्तिकी अनुकूलता संपादन करते हैं, इसलिये वृष्टि होती है, तुम्हारे सबके मनोंको शान्ति और समाधान मिलता है और उस समाधान वृत्तिसे तुम अनेक कार्य कर रहे हो और धन उत्पन्न हो रहा है, तुम्हारे सब व्यवहारोंके लिये जो अन्तःकरणका उत्साह चाहिये वह हमारे पूजा मंत्र पाठ होम हवनसे मिलता है, इसलिये धनपर अधिकार हमारा है।

स्वित्का भाव

इस तरह अपने अपने पक्षका समर्थन करनेका नाम वितर्क है। 'स्वित्' अव्ययका यह भाव है, तर्क वितर्क कुतर्क करना और अन्तिम निर्णय तक पहुंचना वितर्कका काम होता है। यह 'स्वित्' पदका कार्य है। 'स्वित्' पदमें 'सु+इत्' ऐसे दो पद विभाग हैं। 'सु' का अर्थ उत्तम और 'इत्' में 'इ' धातु 'प्रगति, अध्ययन, ज्ञानसंपादन और स्मरण' अर्थमें है। इन दो विभागोंसे (सु+इत् स्वित् बना है अर्थात् इसका अर्थ 'उत्तम प्रगति, उत्तम ज्ञान संपादन, और प्राप्त ज्ञानका उत्तम स्मरण' करना है। 'कस्य स्वित् धनं' धन किसका होनेसे अथवा माननेसे सब जनताकी उत्तम प्रगति होगी, सबको उत्तमसे उत्तम ज्ञान मिलेगा और सबकी मेधा बुद्धि विशाल होगी इसका मनन करना यह स्वित्का भाव है। धन किसका है, किसके स्वामित्वमें धन रहे, इसके अन्दर जो प्रश्न है, और प्रश्नसे जो तर्क वितर्क चलाया जाता है, उसका आशय यह है। इस दृष्टिसे देखा जाय तो 'कस्य स्वित् धनं' इस मंत्र भागमें स्वित्का बडा ही महत्त्व है।

धनसे युद्ध

सब झगडे, कलह, स्पर्धा और युद्ध धनके कारण ही होते हैं। वेदमें 'महाधन' नाम युद्धका है। युद्ध और धनका संबंध इस तरह है। धन न रहा तो कौन किससे किस लिये युद्ध करेगा ? इसलिये वेदने युद्धका मूलकारण धन माना है और इसीलिये 'कस्य स्वित् धनं' यह धनके स्वामित्वका विचार भी वेद ही बता रहा है, वह इसलिये कि यह ज्ञान लोगोंको हो और लोग युद्धसे पीछे हटें और आनंदमें रहें।

मम-सत्यं

युद्धके नामोंमें 'मम-सत्यं' यह भी एक नाम वेदमें है। 'मेरा मत सत्य है, मैं कहता हूं वह सत्य है' इस आग्रहसे युद्ध होते हैं। इसीलिये 'कस्य स्वित् धनं'

*

इसका विचार किया जा रहा है। यहां मेरी संमतिका दुराग्रह न हो उसपर झगडा खडा न हो। परंतु निष्पक्ष विचार हो और निर्णय किया जाय कि सचमुच धन किसका है?

धनका बंटवारा

वेदमें युद्धनामोंमें ' वाजसाती ' युद्धका नाम है। ' वाजसाती ' का अर्थ ' धनका बटवारा, धनका योग्य विभाग है। धनका विभाग करनेके समय झगडे होते हैं। इसलिये इस बंटवारेके समय सबको मालूम होना चाहिये कि धन किसका है। सचमुच धनपर किसका अधिकार है। यहां आग्रह नहीं होना चाहिये, परंतु वितर्क पूर्वक इसका सुयोग्य निर्णय होना चाहिये।

क्या मेरा धन है!

ऊपर अनेक पक्षोंकी संमतियां कही हैं, जिनमें प्रत्येक पक्षका वक्ता कहता है कि ' धन मेरा है। ' क्या यह सत्य नहीं है। ऊपरके सब वक्ता अपने अपने पक्षका धन है ऐसा कह रहे हैं, पर उनके ध्यानमें यह नहीं आरहा है, कि प्रत्येकने अपना ही धन है ऐसा कहा, तो इन सबकी ही संमतिसे धन उन सबका सांझा है अथवा उनमेंसे किसीका भी नहीं, यह स्वयं सिद्ध हो जाता है।

प्रत्येक अपना धन है ऐसा कहेगा तो धन सबका होगा अथवा किसीका भी नहीं होगा। इसीलिये युद्ध करते हैं और जिसका पराभव होता है उसका धन विजयी योद्धा छीन लेता है और विजयी वीर कहता है कि ' यह सब धन मेरा है।' वीर अर्जुनका नाम ' **धनंजय** ' था। इसका अर्थ ही यह है कि वह युद्ध करता था, शत्रुका पराभव करता था, जय प्राप्त करता था और धन लाता था।

पर क्या इस तरह घातपात करके, लूटमार करके, खून खराबी करके धन लूटकर लाना मानवोंके लिये योग्य है? यह तो पशुओंका काम है। वैसा ही मानव करते जांय? यदि पशुओंसे मनुष्य श्रेष्ठ है, तो मननसे तर्क-वितर्क-सुतर्कसे ' कस्य स्वित् धनं ' किसका धन है इसका निर्णय मनुष्य करें, इसलिये यह प्रश्न वेदने सब लोगोंके सामने रखा है, कि मनुष्य पशु न बनें, मनुष्य मनन करके निश्चय करनेवाले मानव बनें और वे निश्चय करें कि ' धन किसका है? '

एक सुलतान था, इसने अपनी आयु भरमें देश देशान्तर में जाकर, अपने साथ सहस्रों गुण्डोंको लेकर कतल और लूट करके अपने पास अगण्य धन इकट्ठा किया। पश्चात् वह मरने लगा, उस समय उसने कहा कि वह सब धन मेरे बिस्तरेके पास ढेर लगाकर रखो। सेवकोंने वैसा ही किया। हीरे, लाल, पाचू, मोती, सोना आदिके पर्वत जैसे ढेर उसकी मृत्यु शय्याके पास लगाये गये। वह उनकी ओर देखता था और रोता था। इस मृत्युके समय उसको पता लगा कि ' इस धनका स्वामी मैं नहीं हूं। ' पर मृत्युके समय इस बातका ज्ञान उसको हुआ। पहिले निश्चय होता तो अच्छा हो जाता। इसीलिये वेदने कहा है कि ' **कस्य स्वित् धनं** ' इसका विचार करो?

इसके मरनेके पश्चात् उसका पुत्र उस धनका स्वामी बना उसने भी अधिक लूटमार करके उस धनमें अधिक भरती की। वह भी मर गया और रोते रोते मर गया, पर अपने साथ इसमेंसे थोडा भी धन न लेजा सका, क्योंकि वस्तुतः वह धन उस व्यक्तिका नहीं था। उसने ' धन किसका है ' इसका विचार ही किया नहीं था। लूटमार करनेमें उसका समय चला गया। ' धन किसका है ' इस वचनका विचार करनेके लिये उसके पास समय ही नहीं रहा था!!!

नगरोंमें बडे बडे सेठसाहुकार धनी पूंजीपति अपने पास धनका संग्रह करके रखते हैं, मरते समय सब धनको यहां ही छोडकर अकेले चले जाते हैं। फिर उनका पुत्र स्वामी बन जाता है, पर वह भी वैसा ही सब धनको छोडकर मर जाता है। ऐसा होते होते जिस समय उसके वंशमें कोई संतान नहीं रहती, कोई वारसदार नहीं होता, उस समय वह सब धन सरकार अपने धनकोशमें जमा करती है। यहां वेद कहता है कि ' **कस्य (प्रजापतेः) स्वित् धनं** ' प्रजापालक राजाका यह सब धन है। जिसका धन था उसके पास चला गया।

प्रश्न— कस्य स्वित् धनं?- किसका भला धन है?

उत्तर— कस्य (प्रजापतेः) स्वित् धनं- प्रजाका पालन करनेवालेका निःसंदेह धन है।

एक ही मन्त्र भागमें प्रश्न भी है और इस प्रश्नका उत्तर भी है। यहां ' कः ' का ' कौन ' ऐसा एक अर्थ है और ' प्रजाको सुख देनेवाला पालक, सुख देनेवाला ' ऐसा

इसीका दूसरा अर्थ है। 'क' का ही अर्थ सुख तथा सुखदायी' ऐसा है। जो पालक जनताका सुख बढाता है और जनताको सुखी करनेके लिये ही प्रजापालन करता है उसका नाम 'क' है और उसका सब धन है। अर्थात् यह धन प्रजाके पालनके लिये है, न कि उस पालक व्यक्तिके उपभोगके लिये। प्रजाके सुखकी वृद्धि होनी चाहिये। 'विष्णु' प्रजाका पालन करता है इसलिये उसके पास 'महालक्ष्मी' (बडी संपत्ति) रहती है। यह धन इस तरह प्रजापालकके कोशमें जाना चाहिये और प्रजाका सुख बढानेके लिये उसका व्यय होना चाहिये यह यहां स्पष्ट हुआ।

प्रजाका हित मुख्य है

आज भी 'व्यक्तिका हित और प्रजाका हित' इसका विरोध होता है, उस समय प्रजाका हित मुख्य और व्यक्तिका हित गौण माना जाता है। मान लीजिये कि किसी नगरमें सार्वजनिक हितके लिये बडा मार्ग करनेकी आवश्यकता हुई, तो बीचके वैयक्तिक स्वामित्वके मकान तोडे जाते हैं और सार्वजनिक हितका मार्ग तैयार किया जाता है, क्योंकि स्थान रूपी धन सार्वजनिक है, वैयक्तिक नहीं है। जबतक सार्वजनिक हितका विरोध नहीं होता, तबतक भले ही व्यक्तिके पास वह धन रहे। पर जिस समय सार्वजनिक हित उसको चाहेगा, उस समय वह सार्वजनिक हितके लिये लिया ही जायगा और उस समय वैयक्तिक स्वामित्व गौण होगा।

सरकारी कर

दूसरा उदाहरण आजके राज्यशासनमें क्या हो रहा है यह देखिये, सरकार 'कर' प्रजासे लेती है। करोंमें 'साधारण कर, विशेषकर, अत्यंत विशेष कर' ऐसे अनेक प्रकारके कर होते हैं। साधारण कर षष्ठांश माना जाता है, प्रतिशतक १५ या १६ समझ लीजिये। 'विशेष कर' प्रतिशतक ५० तक लेते हैं और अत्यंत विशेष कर प्रतिशतक ९० या ९५ तक भी सरकार ले सकती है। साधारण कर सर्वसाधारण मानवोंसे षष्ठांश रूपमें लेते हैं, विशेष धनिकोंसे लाभका आधा तथा अत्यंत धनिकोंसे प्रतिशतक ९० या इससे भी अधिक सरकार लेती है। प्रत्येक सरकारको यह अधिकार है ऐसा सब विचारवान् लोग मानते हैं और यूरोप, अमेरिका तथा भारतवर्षमें ये कर हैं इसलिये प्रजाका पालन करनेवाला शासक अपना धन वसूल करता है। 'प्रजापतेः स्वित् धनं' प्रजा पालकका धन है वह प्रजा पालकने वसूल किया। इतनाही इसका अर्थ है।

युद्धादि विशेष प्रसंगोंमें इससे भी अधिक धन सरकार लेती है और वह योग्य है ऐसा सब विद्वान मानते हैं। इसका कारण यही है, कि प्रजाके हित करनेके लिये ही वह धन था, वह प्रजापालकने प्रजाका पालन और हित करनेके लिये ले लिया। अस्तु इस तरह आज भी 'प्रजापतिका धन है' ऐसा ही माना जाता है। वेदका वचन इस तरह अच्छे राज्य शासनोंमें स्वीकृत किया गया है। यहां तर्कके मननसे यह सिद्ध हुआ कि—

१ धन व्यक्तिका नहीं है,

२ धन प्रजापालकका है,

३ इस धनका उपयोग प्रजाके सुखका संवर्धन करनेके कार्योंमें ही प्रजापालकको करना चाहिये,

४ इस धनका उपयोग अपने निज भोग बढानेके लिये करनेका अधिकार प्रजापतिको नहीं है।

यह सब भाव ध्यानमें धारण करके ही वेदमें 'कस्य स्वित् धन' के पूर्व 'मा गृधः' (मत ललचाओ) ऐसी आज्ञा की है।

लालच न कर

मनुष्य धनकी लालच करता है और इस धनका उपयोग अपने भोग बढानेमें करता ही रहता है। जिस समय एक व्यक्ति अत्यधिक धनका उपयोग अपने भोगोंके लिये करने लगता है, उस समय कई दूसरे लोग उतने भोगोंसे वंचित रहते हैं और उनको दुःख होने लगता है। ये दुःखी जीव उस स्वार्थी धनिकका द्वेष करने लगते हैं और इस तरह स्पर्धा बढती है और कलह, युद्ध और विनाशमें इसका पर्यवसान हो जाता है। इसलिये वेदने कहा कि 'धन प्रजापति का है, अतः कोई व्यक्ति लालच न करे।' कितनी सावधानताकी यह आज्ञा है देखिये।

मनुष्यके लिये भोग अवश्य है

मनुष्यको जीवित रहना ही है, शीघ्र मरना नहीं है। इसलिये दीर्घजीवन प्राप्त करनेके लिये, सुखसे रहनेके

लिये जितना अन्न वस्त्रका भोग चाहिये उतना तो उसको अवश्य ही मिलना चाहिये। इतना लेनेमें दोष भी नहीं है। इससे अधिक अथवा अत्यधिक लेना दोष है। 'परिग्रहवृत्ति' अर्थात् अपने पास अत्यधिक भोगोंको संग्रहित करके रखनेकी इच्छासे दोष होते हैं और दुःख बढ जाते हैं। इसलिये 'अ-परिग्रह-वृत्ति' धारण करनी चाहिये। जीवन निर्वाहके लिये आवश्यक उपभोग प्रत्येक व्यक्ति ले सकती है, उससे अधिक नहीं। इसी उद्देश्यसे कहा है कि 'मा गृधः' (मत ललचाओ), आत्यावश्यक जीवन निर्वाहकी वस्तु लेना दोष नहीं, वह लालच भी नहीं। अनावश्यक भोग संग्रह करना दोष है। यही दोष समाजमें उपद्रव मचाता है।

उदाहरण देखिये कि एक मनुष्यके लिये दो चार कुडते चाहिये। इतने मनुष्य रखे और पहने। पर चार दर्जन कुडते करना और रखना यह व्यवहार दोष उत्पन्न करनेवाला है। इससे कपडे अन्य लोगोंको जीवन निर्वाहके लिये भी नहीं मिलते और वर्गकलह खडे हो जाते हैं इसी तरह अन्यान्य उपभोगोंके विषयमें समझना चाहिये। इसीलिये वेदने कहा है कि 'मा गृधः। कस्य स्वित् धनं।' लालच न धर। धन किसका है अर्थात् धन प्रजापालकका है यह ध्यानमें धारण कर।

धनका अर्थ सब उपभोगके पदार्थ, ये सब धन प्रजापतिके हैं। प्रजापतिका अधिकार सब धनपर है। प्रजापालनके लिये उसके पास सब धन रहेगा और उसका उपयोग वह प्रजापालनके कार्य निभानेके लिये करेगा। 'प्रजापतिका धन है' इतना कहनेसे जो प्रजाका अच्छी तरह पालन नहीं करता, उसका धनपर अधिकार नहीं है, यह आप ही आप सिद्ध हो चुका है।

(१) मा गृधः, (२) कस्य स्वित् धनं' ये दो मंत्र भाग हैं और इनका अर्थ ऊपर दिया है। कई विद्वान इनको दो वचन न मानकर, अर्थात् इसका एक ही वचन मानकर अर्थ करते हैं। 'मा गृधः कस्य स्विद् धनं' किसीके धनकी लालच न कर ऐसा इसका अर्थ ये समझते हैं। पर यह अर्थ अशुद्ध है। 'स्वित्' का अर्थ 'प्रश्न और वितर्क' है। ये भाव लेकर अर्थ करनेमें उनका भाव प्रकट नहीं हो सकता। इस तरहके अर्थपर दूसरी आपत्ति यह है कि 'किसी दूसरेके धनकी लालच न कर' ऐसा इसका अर्थ माननेसे अपने पासके धनकी लालच करनेमें तो कोई प्रतिबंध नहीं है। एक लखपति और करोडपति अपने धनका उपयोग जैसा चाहिये वैसा करे, यह अर्थ समाजमें धनी और निर्धनमें विग्रह करनेवाला है। सचमुच समाजके सामने धनी अपने धनका उपयोग कैसा करे यही एक समस्या है। निर्धन बिचारा अपनी निर्धनतामें सडता ही रहता है, वह लालच तो क्या करेगा और वह परिग्रह भी कितना करेगा। धनी दूसरेके धनका लोभ न करे इतना ही कहनेसे सामाजिक अर्थकी समस्या दूर नहीं होगी। धनीके पास जो धनका संग्रह है, वह किसका है, उसपर स्वामित्व किसका है यह महत्वका प्रश्न है।

यज्ञके लिये धन है

सब धन यज्ञके लिये हैं यह वैदिक विचारधारा है। सब धन प्रजापालक प्रजापतिका है, यह ऊपर दिये मन्त्रका कथन है। यज्ञके लिये सब धन है ऐसा कहनेसे भी वह धन सब प्रजाके पालनके लिये लगना चाहिये, यही तात्पर्य उससे निकलता है। क्योंकि 'यज्ञ' का अर्थ ही "(१) जिस कर्मसे श्रेष्ठोंका सत्कार होता है, (२) संगतिकरण अर्थात् प्रजाका संगठन होता है और (३) असहायकोंको आवश्यक सहायता मिलती है" यह है। 'सत्कार-संगति-दानात्मक कर्म' यज्ञ कहलाता है। इससे प्रजाजनोंका कल्याण होगा ही। सब धन यज्ञके लिये है ऐसा कहनेसे सब धन प्रजाके हितके लिये है ऐसा ही सिद्ध होता है। यज्ञमें जो धन लगता है वह सब यज्ञकर्ताके उपभोगके लिये नहीं रहता, परन्तु सब जनोंके हितके लिये है। इसलिये यज्ञार्थ धन हुआ अथवा प्रजाहितके लिये लगा, तो भी किसी व्यक्तिके उपभोगके लिये वह नहीं आसकता। इसलिये "किसी दूसरेके धनकी अभिलाषा न कर" यह अर्थ अशुद्ध है और हमने जो अर्थ किया है वही सत्य है। किसी दूसरेके धनकी अभिलाषा तो कोई कभी न करे, पर अपना धन भी अपना नहीं, वह यज्ञके लिये अथवा प्रजापालनके लिये है ऐसा मानना ही वैदिक धर्मकी विचार धाराके अनुसार योग्य है।

त्यागसे भोग

अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि मनुष्य अपने धनका उप-

भोग कैसा करे ? इसका उत्तर वेदमंत्रने ऐसा दिया है। 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' उसका त्यागसे भोग कर। यहां 'त्याग' का अर्थ 'दान' है। दानसे अपने धनका उपभोग करना चाहिये। यह एक अपूर्व उपदेश है।

(१) धन प्रजापालन करनेवाले प्रजाशासकका है।

(२) इसलिये धनकी लालच न कर।

(३) धनका उपभोग त्यागसे कर।

(१) कस्य (प्रजापते) स्वित् धनं, (२) मा गृधः, (३) तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः। ये तीन मन्त्र भाग क्रमपूर्वक देखनेसे इनका सच्चा आशय स्पष्टरूपसे अपने मनमें आ जाता है। वस्तुतः यह मन्त्र ऐसा है—

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः, मा गृधः, कस्य स्विद्धनम्। (यजु. ४०।१) इसने इसके तीन विभाग, उलटे क्रमसे विचारके लिये लिये हैं।

'धनका दानसे भोग कर, धनकी लालच न धर, धन निःसन्देह प्रजापालकका है।' यहां धनका दानसे भोग करनेकी आज्ञा है।

दान और भोग

धनका भोगसे भोग हो सकता है और धनका दानसे भी भोग हो सकता है। इसका मनन अधिक करना चाहिये। दानसे भोग होता है और भोगसे भी भोग होता है। इसमें श्रेष्ठ भोग कौनसा है और कनिष्ठ भोग कौनसा है इसका मनन करना चाहिये। देखिये, इसका विचार ऐसा है...

भोगसे भोग

भोगसे भोग वह है कि जो प्रत्येक मनुष्य अपने इंद्रियोंसे स्वयं करता है। इस भोगकी मर्यादा होती है। यह भोगसे भोग अमर्याद नहीं किया जा सकता। देखिये अपने घरमें लड्डू जिलेबियां बनी हैं और इनका भोगसे भोग करना है, तो उनका सेवन हम उतना ही कर सकते हैं कि जितना हम पचन कर सकते हैं। अधिक नहीं कर सकते। यदि अधिक खाया जाय, तो वह पचन नहीं होगा और अपचनसे अनेक कष्ट उत्पन्न होंगे। इस तरह मुखसे अन्न भोग करनेमें ईश्वरकी मर्यादा लगी है। उस मर्यादाका उल्लंघन कोई नहीं कर सकता। कोई मनुष्य १० जिलेबिया खायेगा, कोई बीस खायेगा। अधिक खायेगा तो वे जिलेबियां इसका भोग करने लगेगी और उस समय खानेवालेको बडा कष्ट होगा।

इसी तरह आपके दस घर हैं, पर आप किसी एक समय एक ही घरमें रह सकते हैं और एक ही कमरेमें रह सकते हैं। यहां ईश्वरकी मर्यादा लगी है, उसका उलंघन करके अनेक मकानोंमें एक ही समय रहना अशक्य है। आपके घरमें अनेक गाडियां हैं, पर आप एक समय एक ही गाडीमें बैठ सकते हैं। एक समय दोचार गाडियोंमें बैठना किसी मनुष्यके लिये असंभव है। यह ईश्वरने मर्यादा नियत की है। आपके घरमें सैकडों कपडे हैं, पर एक समय आप दोचार ही कपडे पहन सकते हैं। एक समय सैकडों कपडे पहनना मनुष्यके लिये अशक्य है।

मनुष्य अनक विवाह कर सकता है, सैकडों स्त्रियां जनानखानेमें रखनेवाले नवाब अनेक हो चुके हैं। पर एक समयमें किंवा एक दिनमें अधिकाधिक स्त्रियोंका समागम होना अशक्य है। यहां मर्यादा लगी हुई है उसका उलंघन मनुष्य नहीं कर सकता।

इतने उदाहरणोंसे स्पष्ट हुआ कि भोगसे भोग अल्प मर्यादातक ही संभव है। मनुष्यकी भोग भोगनेवाली इंद्रियां थक जाती हैं और मर्यादा उलंघन करके अधिक भोग कर नहीं सकती। इसका अनुभव प्रत्येक मनुष्य ..., जिस किसी इंद्रियसे कर सकता है। इसलिये इस ... अधिक स्पष्टीकरणकी आवश्यकता नहीं है।

दानसे भोग

अब दानसे भोग कैसा अमर्याद है देखिये। आप मिष्टान्न घरमें जितना चाहिये उतना कीजिये और लोगोंको खिलाइये। आप जितना अन्न तैयार कर सकते हैं और जितनेको खिला सकते हैं, उतना आप दान कीजिये इनके तृप्त हुए मुखोंको देखकर जो आनंद आपको होगा वह अमर्याद आनंद है। आप अन्नदान, विद्यादान, धन दान जितना चाहे उतना कीजिये, दवाखाने खोलिये, अनेक प्रकारके दानोंसे जो जनताका उपकार हो सकता है करते रहिये। उन लोगोंके आनन्दित मुख देखकर जो दाताको आनन्द प्राप्त हो सकता है वह आनन्द अमर्याद

है। हजारों विद्यार्थी आपके विश्वविद्यालयसे विद्वान होकर बाहर आजायेंगे, आपके दवाखानेसे प्रतिदिन हजारों रोगी रोगमुक्त होंगे, उनका अमर्याद आनन्द देखनेसे जो आनन्द आपको प्राप्त होगा, वह आनन्द दिव्य आनंद होगा और वह अमर्याद आनन्द होगा। अर्थात् दानसे जो भोग होता है वह यह है। इसका विस्तार अमर्याद, आनन्द भी अभौतिक और इसका क्षेत्र भी व्यापक तथा अत्यंत विस्तृत है। इसलिये वेद कहता है कि 'लालच न कर और 'दानसे भोग कर।' दान करते हुए तुम भी थोडासा भोग अपने लिये करो, वह तुम्हारा आनन्द बढायेगा। व्यवहारमें भी जनसंघपर उपकार करनेसे जो आनन्द होता है वह आनन्द किसी पदार्थके भोग करनेसे प्राप्त होनेवाले आनन्दसे सहस्त्रगुणा अधिक होता है। इसलिये 'दानसे भोगकर' (तेन त्यक्तेन भुंजीथाः) यह वेदकी आज्ञा आप सबका सुख बढानेवाली है, प्रेम बढानेवाली है, अमर्याद आनन्द देनेवाली है।

यहांतक हमने वेदके तीन उपदेश देखे। उनका परस्पर संबंध भी है। वे उपदेश ये हैं—

(१) कस्य (प्रजापतेः) स्वित् धनं— सब धन निःसंदेह प्रजापतिका है, किसी व्यक्तिका नहीं इसलिये—

(२) मा गृधः— कोई व्यक्ति लालच न करे और—

(३) तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः— उस (धनका) दानसे भोग करे। भोगसे भोग नहीं।

ये तीन उपदेश वैदिक अर्थ व्यवस्थाका स्वरूप बता रहे हैं। (१) धन किसी व्यक्तिका नहीं, व्यक्ति मरनेवाली है, धन छोडकर व्यक्ति मरकर चली जाती है। समाज स्थायी रहता है इसलिये जो स्थायी रहता है उसका धन है। उस समाजकी पालना प्रजापति संस्थासे होती है, इसलिये सब धन प्रजापति संस्थाका है। (२) यदि यह मान लिया गया तो व्यक्तिको किसी धनकी लालचमें फंसना योग्य नहीं, यह स्वयं ही सिद्ध हो चुका है। यदि धन प्रजापालक संस्थाका है तो वह व्यक्तिका नहीं। भले ही धन व्यक्तिके पास रहे। पर वह व्यक्ति उसका विश्वस्त होकर रहे, उपभोग करनेवाला स्वामी नहीं। इस तरह धनपर आसक्ति छोडना मनुष्यका कर्तव्य हो जाता है। इतना होनेपर भी मनुष्य भोग करनेके बिना जीवित रह नहीं सकता, इसलिये वह कैसा भोग करे? तो इस प्रश्नके उत्तरमें वेद कहता है कि (३) 'त्यागसे-दान देकर-जो बचता है, यज्ञ करके जो यज्ञशेष रहता है उस अमृतका भोग करे। ये तीनों उपदेश वैदिक अर्थ व्यवस्थाका स्वरूप दर्शा रहे हैं। सब धन यज्ञके लिये उत्पन्न हुआ है, इसका अर्थ यह है।

समाजके आधारसे व्यक्ति रहती है।

यज्ञकी कल्पना मूलतः कहांसे, किस सिद्धान्तसे उत्पन्न हुई यह भी यहां देखना चाहिये। इसलिये वेदने मानव समाजकी व्यवस्था दो शब्दोंसे कही है, वह सब देखिये-

जगत्यां जगत् (यजु० ४०।१)

'जगतीके आधारसे जगत् रहता है।' यह इस वचनका पदशः अर्थ है। पर इसका आशय क्या है? जगती किसका नाम है और जगत् किसको कहते हैं, यह विचारणीय विषय है। 'जगत्' का अर्थ (गच्छति इति जगत्) जो गतिमान है, जिसमें चलनवलनकी शक्ति है, जो अपनी प्रगति करता है वह जगत् है। पृथिवी स्वयं अपनी इर्द गिर्द तथा सूर्यके चारों ओर घूमती है, इसलिये पृथिवी और पृथिवीपरके सब पदार्थ गतिमान हैं। सूर्य अपनी ग्रहमालाके साथ बृहत्सूर्यके चारों ओर घूम रहा है। इसलिये संपूर्ण सूर्यमाला घूम रही है अतः गतिमान है। सब विश्व गतिमान है। इस विश्वमें कोई वस्तु गति रहित नहीं है। इसलिये प्रत्येक वस्तुको, वह गतिमान होनेसे, जगत् कह सकते हैं।

पर यदि गतिका अर्थ प्रगति माना जाय, तो केवल मनुष्य ही ऐसा है, कि जो प्रगति कर सकता है। मनुष्यमें स्वतंत्र बुद्धि है, इसलिये वह अपनी उच्च गति-प्रगति-भी कर सकता है और नीचगति-अधोगति-भी कर सकता है। मनुष्यको छोडकर अन्य प्राणी गतिमान तो हैं, पर उनमें स्वतंत्र प्रतिभा नहीं है, अपनी स्थिर बुद्धिसे जन्म जात मतिसे-वे जैसे हैं वैसे ही रहते हैं। चिडियां देखिये, जिस तरह वे १०००० वर्ष पूर्व थीं वैसी ही आज हैं और वैसी ही १०००० वर्षोंके बाद भी रहेंगी। पर मनुष्यका वैसा नहीं, वह प्रगति करता है और अपनी अधोगति भी करता है। इसलिये सामान्यतः सब विश्वान्तर्गत पदार्थ 'जगत' कहलाते हैं परंतु पूर्ण रीतिसे मनुष्य ही 'जगत्' है, क्योंकि

मनुष्य सच्चा गतिमान है। जिस तरह प्रभावी पुत्र जिस माताका होता है, उस माताको 'पुत्रवती' कहते हैं, नहीं तो बहुत स्त्रियां पुत्र उत्पन्न करती हैं और सूवरीको तो दस दस संतान होते हैं, पर उनको कोई नहीं पूछता। इसी तरह सब ही गतिमान् होनेसे 'जगत्' कहलाये जांयगे, परंतु अपनी गतिकी मनुष्य प्रगति करके अन्तमें वह परमपद प्राप्त कर सकता है, इसलिये मनुष्य ही अपनी गति संपन्नताका उत्तमोत्तम उपयोग करता है, अत मनुष्य ही सच्चा गतिमान् है, अतएव सत्य अर्थसे 'जगत्' है।

एक व्यक्तिको 'जगत्' कहा जाता है और उन अनेक जगतोंकी समष्टिको 'जगती' कहते हैं। इसकी तालिका ऐसी होती है

जगत्	···	जगती
एक	···	बहुत
व्यष्टि	···	समष्टी
व्यक्ति	·	समाज
असंभूति	···	संभूति
असंभव	···	संभव
विनाश	···	अविनाश

यहां प्रश्न होता है कि क्या व्यक्ति स्थायी है अथवा समाज स्थायी है। व्यक्ति मरतो है और समाज स्थायी रहता है यह अनुभव हर कोई जानता है। हिंदु व्यक्ति मरती है, परंतु हिंदुसमाज अजरामर है, स्थायी है। इसी तरह अन्य समाजोंके विषयमें जान सकते हैं। व्यक्ति मरती है, प्रत्येक व्यक्ति मरनेवाली है, और उन व्यक्तियोंका बना समाज स्थायी और अमर है, यह हम सर्वत्र देखते हैं। हिंदु व्यक्तियां मर रहीं हैं, पर हिंदु समाज दस सहस्र वर्षोंसे है और भविष्यमें भी रहेगा। तो धन मरनेवाले, नाश होनेवालेका नहीं हो सकता, धन तो स्थायी रहनेवाले समाजका ही हो सकता है, यह बात तो स्पष्ट ही है।

यहां प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि 'कस्य (प्रजापतेः) धनं' इस मन्त्र भागका अर्थ ब्राह्मण वचनानुसार 'प्रजापतिका धन है' ऐसा है। यहां कोई पूछ सकते हैं कि धन प्रजाका है वा प्रजापतिका है? अर्थात् यहां धन जनताका है वा शासकका है। प्रजा और प्रजापतिमें स्थायी भाव किसका है? उत्तरमें हम कह सकते हैं कि 'प्रजा' स्थायी है और 'प्रजापति' बदलनेवाला है। 'प्रजा' स्थायी रहती है 'राजा' बदलता रहता है। प्रजाका अर्थ 'लोक समूह, जनता, मानव समाज' स्थायी है, 'राजा' रहे या न रहे, 'पालन करनेवाला' हो या न हो, प्रजा रहती है और रहेगी। इसलिये 'प्रजा' मुख्य है और 'प्रजापति' गौण है। प्रजाके रहनेपर प्रजापति रहेगा, परंतु प्रजापतिके कारण प्रजा रहती है ऐसा नहीं कह सकते।

राजा, पालक, शासककी कल्पना पीछेसे उत्पन्न हुई है। पहिले जनसमाज था। जनसमाज बहुत वर्षोंसे था, पश्चात् राजा होनेसे कुछ लाभ होते हैं, इसलिये राजा निर्माण किया गया। और कहा कि 'राजा रञ्जयते प्रजाः' राजा वह है कि जो प्रजाका रञ्जन करता है। अर्थात् प्रजा निरपेक्ष है, राजा-शासक-पालक रहे या न रहे 'प्रजाजन' तो रहेंगे। वेदमें कहा है—

'विराड् वा इदमग्र आसीत्

अथर्व० १५

'वि-राज्' अर्थात् राजविहीन प्रजाजन ही पहिले थे।' इस समय राजाकी कल्पना भी निर्माण नहीं हुई थी। पर उस समय प्रजाजन थे। लोक थे, जनता थी। पश्चात् शासककी कल्पना हुई है। अर्थात् जनसमाज शाश्वत अथवा मुख्य और शासक, प्रजापति गौण है। रञ्जन करनेवाला गौण होता है और जिसका वह रञ्जन करता है वह मुख्य होता है। प्रजाजन न रहे तो राजा रह ही नहीं सकता, परंतु राजा रहे या न रहे प्रजाजन तो रह सकते हैं।

'कस्य (प्रजापतेः) धन' इस मंत्रभागमें जो कहा है कि धन प्रजापतिका है, प्रजापालकका है, उसमें यह भाव है कि प्रजाकी पालनाके लिये ही धन है, क्योंकि प्रजा ही मुख्य है, पालक उस प्रजाका आप्त सेवक, पालन कर्म करनेके लिये नियुक्त किया कार्यवाहक है। प्रजा पालन अच्छीतरहसे करेगा तो वह कार्यालयमें रहेगा, प्रजाका पालन अच्छी तरहसे उससे न होने लगा, तो वह अपने स्थानसे हटाया भी जायगा। वेदमें एक प्रजापतिको हटाकर दूसरे प्रजापतिको उसके स्थानपर रखनेका वर्णन है।

वास्तोष्पतिं व्रतपां निरतक्षन् । ऋ० १०।६१।७

'नियमोंका पालन करनेवाले दूसरे प्रजापतिको पहिले प्रजापतिके स्थानपर नियत किया।' पहिला प्रजापति नियम विरुद्ध कार्य कर रहा था, अतः उसको शासकके स्थानसे हटाया गया और नया दूसरा प्रजापति वहां नियुक्त किया गया।

'राजसूय' यज्ञ इसीलिये है। राजाका, शासकका चुनाव इस यज्ञमें होता है। प्रजा संमति देती है और वह राज्यका शासक होता है। अस्तु इसका तात्पर्य यह है कि प्रजा मुख्य है और सेवक गौण है। शासकके पास जो धन आता है वह जिसका शासन करना है उसके हित साधनके कार्यक्रम करनेके लिये है। अतः धन प्रजाका है और शासक इस धनका विश्वस्त है। शासक विश्वस्त करके रहे, उपभोक्ता न बने, यह भाव इस विवरणका है।

राजा और प्रजाकी तुलना करके यहां बताया कि प्रजा मुख्य और राजा गौण है। परंतु राजगद्दीपर नियुक्त होनेपर वही सब प्रजाजनोंसे अधिक आदरणीय समझा जाता है। वह परम आद्य सेवक है तथापि प्रजाद्वारा वंदनीय है, अधिक सम्मानके योग्य है। उसके शासनसे राज्य बलशाली विजयी और प्रभावी हो जाता है। शासनके सब कार्योंमें राजा ही अधिक वन्दनीय है। जिस समय वह राजा प्रजाघातके कार्य करने लगेगा, उस समय प्रजाके प्रतिनिधि उसको स्थानभ्रष्ट कर देंगे, परंतु तबतक वही सर्वोपरि रहेगा।

प्रजा और राजाका गौणत्व और मुख्यत्व इस तरह देखने योग्य है। विशिष्ट प्रसंगके अनुसार एकका और दूसरेका मुख्यत्व हो जाता है। मुख्य बात धन व्यक्तिका नहीं, समष्टीका धन है। यह सिद्धान्त सार्वभौमिक है। अतः इसका विस्मरण नहीं होना चाहिये।

भूमि रूपी धन ग्रामकी जनताके हितके लिये है। किसी व्यक्तिका वह धन नहीं है। राष्ट्रकी भूमि राष्ट्रकी जनताके हितके लिये है। इसी तरह सब पृथिवी सब मानवोंके हितके लिये ही है। किसी व्यक्तिको यह अधिकार नहीं कि वह व्यक्ति अपने आधीन अत्यधिक भूमिभाग करे और दूसरोंको भूखसे मरनेकी आपत्तिमें डाले। भूमिके समान ही अन्य धन धान्यके विषयमें समझना चाहिये।

मुख्य समष्टी है और व्यक्ति गौण है। समष्टी स्थायी और अमर है तथा व्यक्ति नष्ट होनेवाली है, इसीलिये कहा है कि धन समष्टिका है, प्रजाका है, किसी व्यक्ति विशेषका नहीं। 'कस्य (प्रजापतेः) धनं' इस वेद वचनमें जो कहा है कि 'धन प्रजापतिका है' उसमें भी यही भाव है कि 'धन प्रजाका है, प्रजापति उसकी व्यवस्था करनेवाला सेवक है।

जब सब धन सब जनताका है। तब एक व्यक्ति (मा गृधः) उस धनकी लालच न करे, यह वेदकी आज्ञा युक्तियुक्त ही है। सब जनताके लिये जो वस्तु है, उसपर एक व्यक्तिका अधिकार हो ही कैसा सकता है और उस सार्वजनिक वस्तुकी लालच यदि एक व्यक्ति करेगी, तो वह उस व्यक्तिका अपराध समझा जायगा। इसलिये 'मत ललचाओ' (मा गृधः) वेदने आज्ञा दी है। और (त्यक्तेन भुञ्जीथाः) त्यागसे भोग करो, दानद्वारा भोग करो, भोगसे भोग न करो यह वेदकी आज्ञा भी योग्य ही है।

व्यक्तिको समाजका आश्रय

अब (जगत्यां जगत्) जगतीके आधारसे जगत् है, समष्टीके आधारसे व्यष्टि है, समाजके आधारसे एक व्यक्ति है। इसका प्रथम अनुभव लीजिये। कोई लडका जिस समय उत्पन्न होता है, उस समय वह सर्वथा पराधीन रहता है। मनुष्यका लडका तो सर्वथा पराधीन रहता है। कई पशु पक्षियोंके संतान भी पराधीन होते हैं, एक दो वर्ष माताका दूध पीकर वे रहते हैं। पश्चात् माता, पिता, कुटुंबकी सहायतासे वह बढता है, नंतर गुरुसे ज्ञान प्राप्त करके विद्वान बनकर स्वयंप्रज्ञ कहलाता है। तबतक उसकी पालना समष्टिसे होती रहती है। इसलिये कहा है कि समष्टिके आधारसे व्यष्टि रहती है। 'जगत्यां' सप्तमी विभक्ति है। सप्तमीका अर्थ 'आधार, आश्रय, निवास' है। जगत्का आधार, जगत्का आश्रय, जगत्को निवास स्थान देनेवाली जगती है। इसलिये जगत्के मनमें जगतीके विषयमें बडा आदर रखना चाहिये। व्यक्ति सर्वथा समष्टिके आधारसे रहती है, इसलिये व्यक्तिको उचित है कि, वह समष्टिके लिये अपने भोगका त्याग करे। यहां देखिये इसकी यह तालिका ऐसी बनती है—

१ व्यक्ति कुटुंबमें रहती है,
२ ,, ग्राममें ,, ,,
३ ,, जातीमें ,, ,,
४ ,, राष्ट्रमें ,, ,,
५ जगत् जगतीमें रहता है
" जगत् जगत्यां "

इसीलिये व्यक्ति कुटुंब, ग्राम, राष्ट्रके लिये दान करे। जो व्यक्तिके पास धन होगा वह राष्ट्र या नगरके लिये है ऐसा उस व्यक्तिको मानना चाहिये। और त्यागपूर्वक जीवन व्यतीत करना चाहिये। व्यक्ति जीवित है इसके जीवनके लिये उसकी जातीने, उसके राष्ट्रने, उसके ग्रामने और कुटुंबने बहुत कुछ साक्षात् अथवा परंपरया दान किया है। यह कर्जा व्यक्तिपर है, इसको उत्तम रीतिसे उतारना चाहिये। यदि व्यक्तिने जाती और राष्ट्रके लिये कुछ भी नहीं किया, तो वह व्यक्ति जाती और राष्ट्रके कर्जेमें रही। कर्जामें रहना बुरा है। यहां यह भी ध्यानमें धारण करना चाहिये कि, व्यक्ति जिस कुटुंबमें रहती है, उस कुटुंबका धारण राष्ट्रने किया होता है। परंपरया यह ऋण कुटुंबपर रहता है। इस सब व्यवहारका विचार करके वेदने संक्षेपमें कहा है कि (जगत्यां जगत्) समष्टीके आधारसे व्यक्ति है। व्यक्तिका जीवन समाजके आश्रयसे है। इसलिये व्यक्तिके पासका धन समाजका धन है। **(कस्य प्रजापते धनं)** प्रजाका पालन करनेवालेका धन है। इसका यह भाव है। प्रजापतिका धन इसका अर्थ ही प्रजाका धन है, समष्टिका धन है, जगतीका धन है। संभूतिका धन है।

व्यक्ति समाज सेवा करे

शिष्य गुरुके आश्रममें रहता है, बालक माता पिताके आश्रयसे रहता है। इसलिये शिष्यके लिये गुरु और बालकके लिये मातापिता संसेव्य हैं। इसी तरह व्यक्ति समाज और राष्ट्रके आश्रयसे रहती है, इसलिये व्यक्तिके लिये समाज और राष्ट्र संसेव्य है, पूज्य है। इस कारणसे ही कहा है कि धन प्रजापतिका है, किसी एक व्यक्तिका नहीं। धन प्रजाके हितके कार्योंमें खर्च होना चाहिये, किसी व्यक्तिके उपभोगके लिये नहीं। ' जगतीके आश्रयसे जगत् रहता है ' ऐसा कहनेसे व्यक्तिका गौणत्व और समष्टिका मुख्यत्व सिद्ध होता है, जिससे यह सब आशय स्वयं प्रकट होता है।

पाठक यहां देखें कि वेदके एक वचनका आशय दूसरे वचनके साथ किस तरह मिलता है और किस तरह बाधक न होते हुए परिपोषकही होता है। पाठक यहां देखें कि वेद व्यक्तिकी स्वतंत्रताको समाजके हितार्थ अर्पण कर रहा है।

आज प्रत्येक समाजमें व्यक्तिका धन व्यक्तिके पास ही बंद रहता है। यद्यपि सरकार अनेक करोंके रूपसे उस धनका बहुतसा भाग ले लेती है, तथापि व्यक्तिके पास धन संग्रह बढता जाय और उस कारण दूसरी व्यक्तियां तद्-पेक्षया निर्धन रहें, ऐसी ही अर्थ व्यवस्था आज है। इस कारण समाजमें जो अस्वस्थता बढ रही है, वह नाना प्रकारके विप्लवोंको निर्माण करती है और इस हेतुसे सर्वत्र अशांति फैल रही है। यदि यह अर्थव्यवस्था इस वैदिक सिद्धान्तके अनुसार बन जाय, तो सब लोग यहीं अपूर्व सुखका लाभ प्राप्त कर सकेंगे।

सर्वमेधमें सर्वस्वका अर्पण

प्राचीन समयमें अनेक प्रकारके यज्ञ किये जाते थे, उनमें एक ' सर्वमेध ' यज्ञ होता था। इसमें अपना सब धन जनताके हितके लिये दिया जाता था। जो इस यज्ञको करते थे, वे धनहीन जैसे बन जाते थे। सम्राट् भी दूसरे दिनसे मिट्टीके पात्र बर्तने लगते थे। ऐसे यज्ञका उद्देश्य इतना ही था कि किसी एक व्यक्तिके पास धन संग्रह न हो, धन जनताके हित करनेके कार्यमें लगे। ऐसा आज नहीं होता है। भारत, युरोप अमेरिकामें व्यक्तिके पास धनसंग्रह बहुत हो रहा है। यह अयज्ञीय जीवन है। यह पाप हो रहा है। इसीसे दुःख बढ रहे हैं। प्रत्येक मानता है कि ' मेरा धन है ' कोई ऐसा नहीं मानता कि ' यह सब धन प्रजाका है, इसलिये वह प्रजा पालकके पास जाना चाहिये। ' इस वैदिक सिद्धान्तके न माननेसे बडा पाप हो रहा है और यही दुःख बढा रहा है।

बलवान रहेगा, निर्बल नहीं

यहांतक वैदिक अर्थव्यवस्थाके मुख्य तत्त्वोंका विवेचन किया। अब धनके स्वामित्वके विषयमें वेद क्या कहता है वह देखना है। वेद कहता है कि—

'ईशा वास्यं इदं सर्वं यत् किंच।
(वा० यजु० ४०।१)

'यहां जो भी कुछ है, उस सब पर ईशका स्वामित्व होने योग्य है।' यहां ईशका ही स्वामित्व होगा। अनीशका यहां रहना भी असंभव है। ईश ही यहां रहेगा, अनीश नहीं।

जिसमें ईशन शक्ति रहती है उसको ईश कहते हैं, 'ईश' का अर्थ 'शासन करना, शक्तिमान होना, समर्थ होना, आज्ञा करना है।' जो राज्यशासन कर सकता है, जिसमें शासनशक्ति है, जिसमें सामर्थ्य है, जो दूसरोंको आज्ञा करके उनसे कार्य ले सकता है वह ईश है। जो राज्य शासन कर नहीं सकता, जिसमें शासन करनेकी शक्ति नहीं है, जो निर्बल है, जिसमें सामर्थ्य नहीं है, जो दूसरोंको आज्ञा नहीं कर सकता और उनसे कार्य नहीं करवा सकता, वह ईश नहीं है, वह अनीश है। अनीश ही दास होते हैं। ईश सामर्थ्यवान होते हैं, स्वामी होते हैं वे आर्य कह-लाते हैं।

'ईशा वास्यं इदं सर्वं' जिसमें ईशन सामर्थ्य है वही इस सबपर शासन कर सकता है। जो ईशन शक्तिसे युक्त नहीं है वह इस विश्वपर शासन नहीं कर सकता। स्वामित्वका यह सिद्धान्त है। सर्वत्र सब देशोंके इतिहास में यही वैदिक सिद्धान्त दिखाई देता है। इसके विपरीत किसी जगह अनुभव नहीं आता। इतना यह सिद्धान्त सार्व-भौमिक है।

'ईशा वास्यं' इस वचनमें 'वास्यं' क्रिया है। ईश क्या करता है वह इस क्रिया द्वारा बताया है। 'वास्यं' में वस् धातु है, इस धातुका अर्थ (वस् निवासे) निवास करना, रहना, (वस् आच्छादने) आच्छादन करना, घेरना, लपेटना, (वस् स्तम्भे) स्थिर करना, सीधा करना, (वस् स्नेह-छेद-अपहरणेषु) प्रेम करना, काटना और अपहरण करना, यह है।

जो शासक शक्तिवान् है वह यहां रहता है, इसको घेरता है, इसको स्तब्ध करता है, अपने विरुद्ध हलचल करने नहीं देता, विरोध करनेपर इसको काटता है और इसके धनका अपहरण करता है और यदि जनता चुप रही, तो उसपर प्रेम भी करता है। ऐसा सामर्थ्यवान पुरुष इस विश्वमें राज्यशासन करता है। ऐसा प्रभावी वीर स्वामी होने योग्य है। जो किसी स्थानके स्वामी बने वे इन गुणोंसे युक्त थे। जो इन गुणोंसे हीन हैं वे स्वामी अथवा शासक होने योग्य नहीं है।

परदेशमें जाकर जिन्होंने वहां राज्यशासन किया उनमें ये सामर्थ्य थे। जिनमें ये शक्तियां नहीं थी उन्होंने अपना राज्य खो दिया है। इन गुणोंसे जो युक्त होगा वही धनका स्वामी हो सकता है। इन गुणोंसे हीन स्वामी होने योग्य नहीं है। परदेशके लोग यहां आकर रहे, यहांके लोगोंको उन्होंने घेर लिया, अपनी शक्तिसे आच्छादित किया, यहांके लोगोंको उन्होंने स्तब्ध किया, हिलने नहीं दिया, विरोध करनेपर यहांके निवासियोंका वध किया, कतल की, धना-दिका अपहरण किया और जो उनके वश हुए उनपर उन्होंने प्रेम भी किया, इसलिये उन परदेशियोंका राज्य-शासन यहां हुआ और बढा। उनकी अपेक्षा हमारे अन्दर निर्बलता थी, इसलिये न हम बाहर जा सके और न वहां राज्यशासन कर सके। इसका कारण अपनी निर्बलता है। सभी देशोंके इतिहासोंमें यह वेदका सिद्धान्त स्पष्ट रूपसे दिखाई देता है। इसलिये यह त्रिकालाबाधित सत्य है।

ईश वह होता है कि जिसमें ईशन शक्ति है। राज्य-शासनके मुख्य स्थानपर अथवा छोटे छोटे अधिकारियोंके स्थानोंपर ऐसे ईशन शक्तिवाले पुरुषको ही नियुक्त करना चाहिये। जिनमें ईशन शक्ति नहीं है, ऐसे अधिकारी होंगे तो राज्यशासन शिथिल हो जायगा और गुण्डोंकी प्रबलता बढेगी।

'यत् किंच सर्वं ईशा वास्यं' जो भी कुछ यहां है वह सब ईशन शक्ति जिसमें है उसीके अधीन रहने योग्य है। उसीके आधीन रहेगा। उसी सामर्थ्यवान्‌का प्रभुत्व सर्वत्र होगा। यह प्रभुत्वका नियम है। यह नियम अटल है। किसी समय राजवंशमें निर्बल पुरुष निर्माण होता है, उसके आधीन राज्य आया तो सब शासनव्यवस्था शिथिल हो जाती है। इसलिये समर्थ वीर ही स्वामी होने योग्य है।

इस समयतकके विवेचनसे निम्नलिखित सिद्धान्त प्रस्थापित हुए हैं—

१ ईशा वास्यं इदं सर्वं यत् किंच— यहां जो भी कुछ है उसपर ईशन शक्तिवालेका ही अधिकार रहेगा,

२ जगत्यां जगत्— समष्टिके आधारसे व्यक्ति रहती है, इसलिये व्यक्तिको उचित है कि वह—

३ तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः— अपने पासके धनका दान करके भोग करे,

४ मा गृधः— धनका लोभ न करे, लोभ छोड देवे,

५ कस्य स्विद् धनम् ?— धन किसका है इसका विचार करे और जाने कि (कस्य प्रजापते धन) प्रजापालकका धन है। किसी व्यक्तिका धन नहीं है। इसका स्मरण रखे।

यह सब मन्त्र इस तरह है—

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किंच, जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा, मा गृधः, कस्य स्विद्धनम्।

का० यजु० ४०।१; वा० यजु० ४०।१ ईश० १

यह मन्त्र अर्थसिद्धान्त और स्वामित्वके सिद्धान्तका प्रतिपादन करता है। इस मन्त्रके प्रत्येक पदका इतना महत्त्व है कि कोई पद उसके नियत स्थानसे हटाया नहीं जा सकता। प्रत्येक पद अपने स्थानपर विशेष महत्त्व रखता है। अर्थ सिद्धान्तपर इस समय बडे ग्रन्थ लिखे मिलते हैं और स्वामित्वके विषयमें भी बडा वाङ्मय है। पर इतनेसे थोडे शब्दोंमें यहां जो अर्थ रखा है वह वेदकी कोठीमें ही देखा जा सकता है।

शरीरमें राष्ट्र

शरीर भी एक बडा भारी राष्ट्र है। इसमें ३३ करोड अणुजीव रहते हैं, उनमेंसे प्रत्येक स्वतंत्र रीतिसे जन्मता, रहता और मरता है। इनके संघ होते हैं। इस राष्ट्रको 'देवानां देवयजनं कुरुक्षेत्रं' देवोंके देव यज्ञ करनेका यह पवित्र क्षेत्र करके कहा है। यह पवित्र क्षेत्र है। यहां देव आकर रहते और सौ वर्ष यज्ञ करते हैं। यहां इस क्षेत्रका राजा 'आत्मा' है जिसको जीवात्मा बोलते हैं। इसके साथ तैंतीस ओहदेदार आते हैं और एक एक इंद्रिय और अवयवके अधिकारी होकर कार्य करते हैं। इस राष्ट्रके तैंतीस प्रांत हैं और उतने ही यहां प्रांताधिकारी हैं। इस तरह यह विशाल राष्ट्र है। इस राष्ट्रकी राजसभाएँ दो हैं, मनीषा और प्रजा ये इनके नाम हैं। आत्माका अनुशासन यहां चलता है। काम क्रोधादि राक्षस इस राष्ट्रपर हमला करते हैं, इसपर वे कब्जा करना चाहते हैं। आत्माको इसकी सुरक्षा करनी चाहिये और शतसांवत्सरीक यज्ञ निर्विघ्नतया समाप्त करना चाहिये। बाहरके राष्ट्र जैसा ही यह शरीरके अन्दरका राष्ट्र है।

यह मंत्र प्रत्येक मनुष्य अपने अन्दर ढालकर देखनेका यत्न करे। (ईशा वास्यं इदं सर्वं) मैं इस शरीरका ईश हूं, मैं यहां इस शरीरमें रहता हूं, निवास करता हूं, अपनी आत्मशक्तिसे मैं इस शरीरको घेरता हूं, आच्छादित कर रहा हूं। शरीरपर प्रेम करता हूं, फोडे फुनसी होनेपर इसको काटता हूं, इस शरीरपर स्वामित्व करता हूं, इस शरीरको नियममें रखता हूं, जो काम लेना चाहता हूं मैं लेता हू। मेरी इच्छासे इस शरीरमें सब कार्य होते रहते हैं। न होने लगे तो मैं अपनी इच्छासे शरीरसे इष्ट कार्य करवाता हूँ। मैं इस शरीरका शासक हूं। जो इस शरीरमें इन्द्रिय अवयव अथवा अंग हैं, वे सब मेरी इच्छासे अथवा मेरी शक्तिसे कार्य कर रहे हैं। मैं अपनी शक्तिका प्रभाव प्रत्येक अवयवपर रखता हूं, अपनी इच्छासे यहां कार्य करवाता हूं। मेरी इच्छाके प्रतिकूल यहां कुछ भी नहीं हो सकेगा।

(जगत्यां जगत्) इस शरीररूपी समष्टिके आश्रयसे प्रत्येक इंद्रिय और अवयव रहते हैं। इसलिये प्रत्येक अवयवको उचित है कि वह संपूर्ण शरीरके कल्याणके लिये ही कार्य करता रहे। कोई अवयव कभी ऐसा कार्य न करे कि जिससे शरीरपर आपत्ति आजाय। प्रत्येक अवयव अपनी पराकाष्ठा करे और संपूर्ण शरीरका कल्याण होनेके लिये ही कार्य करे क्योंकि संपूर्ण शरीरकी सुस्थितिमें ही प्रत्येक इन्द्रिय तथा अवयवकी सुस्थिति सुस्थिर रहनेवाली है।

प्रत्येक इंद्रिय तथा अवयव पृथक् स्वतंत्र नहीं है। शरीरका वह अंग है। अंगको उचित है कि वह अंगीकी सुस्थितिके लिये अपनी पराकाष्ठा करे। प्रत्येक इंद्रिय अपने सुखके लिये ही तत्पर रहने लगा और संपूर्ण शरीरके स्वास्थ्यके लिये उसने यत्न नहीं किया, तो शरीरका स्वास्थ्य बिगड जायगा, उससे जैसी शरीरकी हानि है वैसी ही उस स्वार्थी सुखेच्छुक अवयवकी भी हानि है। इसलिये प्रत्येक अवयवको उचित है कि वह सब शरीरके हितके लिये अपने

सुखका त्याग करे। (त्यक्तेन भुञ्जीथाः) अपने सुखका त्याग करके सब शरीरके स्वास्थ्यकी सुरक्षाके लिये जितना योग्य और आवश्यक है उतना ही भोग करे। यह संयम पूर्वक भोग होगा। शरीरकी स्वस्थता रखनेके लिये जो किसी इंद्रियको अप्रिय भी लगता होगा, वह उस इंद्रियको करना ही पडेगा। उदाहरणार्थ व्यायाम प्राणायाम करना। इंद्रियाँ आलस्यमें रहना चाहती हैं, पर शरीरके स्वास्थ्यके लिये अवयवोंको समयपर व्यायाम करना ही चाहिये। यही इंद्रियोंका त्याग है। प्रत्येक इंद्रिय अपने प्रिय विषयके पीछे ही न पडे, उससे शरीरपर आपत्ति आजायगी। यहां इंद्रियका संयम इष्ट है। शरीरके लिये, अंगीके लिये अंगका यह त्याग है। ऐसा त्याग करना अत्यंत आवश्यक है।

(मा गृधः) प्रत्येक इंद्रिय अपने प्रिय विषयमें इतना आसक्त न हो कि जिससे शरीरपर ही आपत्ति आजाय। प्रत्येक इंद्रिय अपने विषयके रसका विशेष भोग करनेमें न फंसे। शरीरकी सुस्थितिके लिये अपने भोगकी लालच कम करे। लालचमें न फंसे। (कस्य स्वित् धनं) धन किसका है, धन्यता किसकी हो? प्रत्येक इंद्रियकी व्यक्तिशः शोभा बढे अथवा सब शरीरकी संपूर्णतः शोभा बढे इसका विचार हो। यहां जो शरीरमें शोभा और धन्यता है वह सब शरीरकी बढनी चाहिये। एक एक इंद्रिय अपने अपने विषयमें रस लेनेके लिये अपनी शक्ति बढावे तो सब शरीरपर आपत्ति आ जायगी। इसलिये यहांकी सब शोभा तथा धन्यता सबकी मिलकर होनी चाहिये सब शरीरकी होनी चाहिये। मैं आत्मा इस शरीरका प्रजापति हूं, मेरी शक्तिसे तथा मेरी शोभासे यहांकी शोभा बढती है। यह जानकर आत्माका अनुशासन यहां हो और किसी शत्रु रूप काम क्रोध लोभ मद मत्सर आदि शत्रुओंका शासन यहां कभी न हो।

जो मंत्र आत्मापरक होते हैं वे अपने शरीरमें घटाने चाहिये, जो साक्षात् आत्मा परक नहीं हैं वे भी कुछ हेर फेरसे अपने शरीरमें घटाये जा सकते हैं। पर जो साक्षात् आत्माका वर्णन करते हैं वे तो अवश्य घटाने चाहिये। इस घटानेके समय अर्थकी दृष्टिसे किसी समय कुछ न्यूनाधिक करना आवश्यक भी होता है।

इच्छासे इष्ट परिणाम

अपने शरीरमें वेदमंत्रोंको घटानेसे अपने शरीरके स्वास्थ्यके विषयमें बडा लाभ प्राप्त होता है। अपने शरीरमें अपने मनकी इच्छा शक्तिसे इष्ट परिणाम लाया जा सकता है। इस कार्यके लिये मनुष्यकी इच्छा शक्ति प्रबल करनी चाहिये। इच्छा शक्तिसे विलक्षण हेरफेर शरीरमें होते हैं। 'मैं बीमार हो जाऊंगा' ऐसा माननेसे शरीरमें बीमारी उत्पन्न होनेकी संभावना रहती है। इसी तरह 'मुझे कभी बीमारी नहीं होगी, अथवा इस आयी बीमारीसे मैं शीघ्र अच्छा हो जाऊंगा,' ऐसे आरोग्यमय विचार मनमें स्थिर होनेसे मनुष्य नीरोग हो सकता है, अथवा रोग होनेपर उसको अतिशीघ्र दूर करना भी संभव हो सकता है। इस तरह इष्ट परिणाम अपने विचारोंके प्रभावसे शरीरपर हो सकता है। आरोग्य प्राप्त करना अथवा रोगी स्थितिकी निर्मिति करना यह बहुत अंशसे अपने मनपर अवलंबित है। मानस चिकित्साका यह बीज है। अपने शरीरपर वेद मंत्रोंको घटानेसे यह लाभ होता है। मैं इस शरीरका शासक हूं। मेरा नियत किया अनुशासन ही यहां चलेगा। दूसरे किसीका अनुशासन यहां नहीं चलेगा। ऐसा दृढ विश्वास होनेसे अपने शरीरमें अपनी सदिच्छासे यथेष्ठ इष्ट परिणाम निर्माण किया जा सकता है।

आरोग्य प्राप्त करनेका यह सुगम उपाय है। इसलिये अपने मनमें सदा शुभ विचार ही रहेंगे ऐसा करना चाहिये। दुष्ट विचारोंको अपने मनमें आने देना उचित नहीं है। मनके शुभ विचारोंसे शुभ परिणाम और अशुभ विचारोंसे शरीरपर अनिष्ट परिणाम होता है।

(१) मैं यहांका-इस शरीरका ईश हूं, (२) यहां इस शरीरमें जो कुछ है उसपर मेरा अनुशासन चलेगा, (३) यहां इस शरीरमें सब शरीरके आश्रयसे सब इंद्रियाँ हैं, इसलिये इंद्रियोंको सब शरीरका स्वास्थ्य रखनेके लिये यत्नवान होना चाहिये, अपने इंद्रियोंके भोगोंपर संयम रखना चाहिये, (४) संयमपूर्वक त्यागसे भोग करना चाहिये, (५) भोग लालसा छोडनी चाहिये। (६) सब शरीरका मिलकर हित होनेके लिये यत्न करना चाहिये।

संक्षेपसे शरीरपर घटानेके लिये इस मंत्रसे यह आशय लेना योग्य है। सामाजिक और राष्ट्रीय बोध इससे पूर्व

बताया ही है। इससे (१) अर्थव्यवस्था और (२) स्वामित्वके सिद्धान्तके विषयमें बहुत बोध मिल सकता है।

स्वयं शासन

वैदिक समय स्वयं अनुशासनका समय था। जनता ही स्वयं अपना शासन करती थी। संरक्षण दल तथा अधिकारियोंको विशेष कार्य करना नहीं पडता था। प्रजाको स्वयं अनुशासित रहनेकी सुशिक्षा दी जाती थी।

वैदिक राज्यशासनमें जनताको स्वयं अनुशासनशील बनाना मुख्य है। किसी राष्ट्रकी सरकार विशेष कर धनी लोगोंपर कर लगाकर करोडों रु. राष्ट्रीय धन कोशमें जमा कर सकती है। परंतु लोग ही स्वयं प्रवृत्तीसे " अपना धन व्यक्तिका नहीं है वह सब जनताकी भलाईके लिये है " ऐसा मानकर प्रजापति संस्थाके अध्यक्षके पास लाकर अपना धन दें यह जनताकी जाग्रतिका विशेष लक्षण होगा।

ईशन शक्तिसे जो विशेष योग्य होगा उसको शासन पर नियुक्त करना, व्यक्ति समाजके लिये है, अत: व्यक्तिके भोगोंपर स्वयं संयम रखकर स्वयं ही त्यागसे भोग भोगना स्वयं लोभका त्याग करना और सब धन संपूर्ण जनताका है ऐसा मान कर अपना धन जनताकी भलाईके लिये स्वयं स्फूर्तिसे अर्पण करना यह वैदिक जीवनके स्वयं शासनका स्वरूप है।

ऐसी स्वयं अनुशासनशील अपनी प्रजा बने और परम कल्याण अपने अनुशासनसे प्राप्त करे, ऐसा सबको प्रयत्न करना चाहिये।

प्रश्न

"वैदिक अर्थव्यवस्था और स्वामित्वका सिद्धांत" आपने पढ लिया होगा। ये विषय केवल पढनेके ही नहीं हैं, सूक्ष्मदृष्टीसे मनन करनेके हैं। वैदिक सिद्धान्तोंको व्यक्तिके तथा समाजके जीवनमें ढालना चाहिये। यह सूक्ष्म मननसे ही हो सकता है। इस निबंधमें इन प्रश्नोंके उत्तर हैं—

१ विष्णुके पास महालक्ष्मी है इसका भाव क्या है?
२ समाजवादी और साम्यवादी क्यों युद्ध करते हैं?
३ धन किसका है? धनका सच्चा स्वामी कौन है?
४ क्या निर्बलका धन है?
५ 'सुवीरां रयिं' इस वेदमंत्रका भाव क्या है?
६ 'कः' का अर्थ क्या है?
७ 'स्वित्' का भाव क्या है?
८ क्या धन युद्धका कारण है?
९ वेदमें युद्धके लिये महत्त्वके कौनसे शब्द हैं?
१० क्या धनके बंटवारा करनेमें झगडा होता है?
११ हम 'यह धन मेरा है' ऐसा कहते हैं, क्या यह सत्य नहीं है?
१२ प्रजापतिका क्या लक्षण है?
१३ क्या प्रजाका हित मुख्य है?
१४ सरकार 'कर' लेती है, उसका तत्त्व क्या है?
१५ हम क्यों लोभ छोडें?
१६ क्या मनुष्य भोगके विना जीवित रह सकता है?
१७ धन यज्ञके लिये है इसका भाव क्या है?
१८ भोगसे भोग और त्यागसे भोगमें कौन हितकर है?
१९ दान और भोगका उपयोग क्या है?
२० व्यक्ति स्वतंत्र है वा समाजका अंग है?
२१ अंगीके लिये अंगको क्या करना चाहिये?
२२ राजा और प्रजामें मुख्य और गौण कौन है?
२३ क्या समाजके आधारके विना व्यक्ति उन्नत हो सकती है?
२४ व्यक्ति समाजकी सेवा क्यों करे?
२५ 'सर्वमेध' यज्ञका रहस्य क्या है?
२६ बलवान और निर्बलमें कौन श्रेष्ठ है?
२७ अपने शरीरमें राष्ट्र किस तरह देखा जाता है?
२८ मानस शक्तिसे शरीरपर किस तरह परिणाम होता है?
२९ इच्छाशक्तिसे शरीरमें लाभ किस तरह होते हैं?
३० क्या अपनी मानस शक्तिसे अपने शरीरमें हानि भी हो सकती है? हानिको किस तरह टाल सकते हैं?
३१ शरीरमें स्वराज्य और राष्ट्रमें स्वराज्यका भाव क्या है?
३२ कौन शासक होने योग्य है और कौन नहीं?

इन प्रश्नोंके उत्तर अपनी कल्पनासे, नये प्रमाण देकर देनेका यत्न करें।

उपनिषदोंको पढिये

निम्नलिखित उपनिषद् तैयार हैं—

१ ईश उपनिषद्	मूल्य २)	डा. व्य. ॥)
२ केन उपनिषद्	,, १॥)	,, ॥)
३ कठ उपनिषद्	,, १॥)	,, ॥)
४ प्रश्न उपनिषद्	,, १॥)	,, ॥)

अन्य उपनिषद् छप रहे हैं।

इन उपनिषदोंमें मनुष्योंके जीवनमें लाने योग्य, जीवनका सुधार करनेवाला तथा जीवनमें दिव्य भाव बढानेवाला तत्त्वज्ञान है। इसको व्यक्तिके तथा राष्ट्रके जीवनमें किस तरह लाया जा सकता है, इसी बातपर नया प्रकाश इस व्याख्यानमें डाला गया है। वेद तथा उपनिषद् विवादके ग्रंथ नहीं हैं। वे जीवनको दिव्य जीवन बनानेवाले तत्त्वज्ञानके ग्रन्थ हैं। सामूहिक रूपसे यह तत्त्वज्ञान मानवी-जीवनमें लाना चाहिये। इस तत्त्वज्ञानकी बुनीयादपर हमारा समाज और हमारा राष्ट्र तथा उसका राज्यशासन चलना चाहिये। इस सबका सुबोध विवरण पाठक इन ग्रन्थोंमें देखेंगे जो इनको पढेंगे।

स्वाध्याय-मण्डल, 'आनन्दाश्रम'
किल्ला-पारडी (जि. सूरत)

वर्चःप्राप्ति सूक्त।

अथर्व० कां० ३।१२

(ऋषिः वसिष्ठः । देवता—वर्चः, बृहस्पतिः, विश्वेदेवा)

१ हस्तिवर्चसं प्रथतां बृहद् यशो अदित्या यत् तन्व१ः संबभूव ।
तत् सर्वे समदुर्मह्यमेतद् विश्वे देवा अदितिः सजोषाः ९३०

२ मित्रश्च वरुणश्चेन्द्रो रुद्रश्च चेततु ।
देवासो विश्वधायसस्ते माञ्जन्तु वर्चसा ९३१

३ येन हस्ती वर्चसा संबभूव येन राजा मनुष्येष्वप्स्व१न्तः ।
येन देवा देवतामग्र आयन् तेन मामद्य वर्चसाग्ने वर्चस्विनं कृणु ९३२

ब्रह्मचारी होते हो। वैदिक धर्मियोंको ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि ऐसे राज्य इस भूमंडलपर स्थापित हों और सर्वत्र ब्रह्मचर्यका वायुमंडल फैले। इसके नंतर इन्द्र शब्दका तीसरा अर्थ परमात्मा है। यह परमात्मा तो पूर्णब्रह्मचर्यका परम आदर्श है, इसकी भक्ति और उपासनासे कामाग्निका शमन होता ही है। सब ऋषिमुनि और योगी इसी परमात्म भक्तिकी साधनासे मनः संयम द्वारा कामाग्निका शमन करके अमर हो गये।

इस प्रकार उपायका वर्णन इस सूक्तमें किया है। यह सूक्त अत्यन्त महत्त्वका है। इसका पाठ " बृहच्छान्तिगण " में किया है। सचमुच यह सूक्त बृहती शांति करनेवाला ही है। जो पाठक इसके अनुष्ठानसे इस शांतिकी साधना करेंगे वेही धन्य होंगे।

[१] (९३०) (यत् अदित्याः तन्वः) जो अदितिके शरीरसे (संबभूव) उत्पन्न हुआ है वह (हस्तिवर्चसं बृहत् यशः) हाथीके बलके समान बडा यश (प्रथतां) फैले। (तत् एतत्) वह यह यश (सर्वे सजोषाः विश्वे देवाः अदितिः) सब एक मनवाले देव और अदिति (मह्यं सं अदुः) मुझे देते हैं।

जो मूल प्रकृतिके अंदर बल है, जो हाथी आदि पशुओंमें आता है, वह बल मुझमें आवे, सब देव एक मतसे मुझे बल देवें।

[२] (९३१) (मित्रः च वरुणः च इन्द्रः च रुद्रः च) मित्र, वरुण, इन्द्र और रुद्र (चेततु) उत्साह देवें। (ते विश्वधायसः देवाः) वे विश्वके धारक देव (वर्चसा मा अञ्जन्तु) तेजसे मुझे युक्त करें।

मित्र वरुण इन्द्र और रुद्र ये विश्वके धारक देव मुझे उत्साह देवें, ज्ञान देवें और मुझे तेजसे युक्त करें।

[३] (९३२) (येन वर्चसा हस्ती संबभूव) जिस तेजसे हाथी उत्पन्न हुआ है, और (येन मनुष्येषु अप्सु च अन्तः राजा सं बभूव) जिस तेजसे मनुष्योंमें और जलोंके अन्दर राजा हुआ है, और (येन देवाः अग्रे देवतां आयन्) जिस तेजसे देवोंने पहले देवत्व प्राप्त किया, (तेन वर्चसा) उस तेजसे हे अग्ने! (मां अद्य वर्चस्विनं कृणु) मुझे आज तेजस्वी कर।

जिस बलसे हाथी सब पशुओंमें बलवान् हुआ है, जिस बलसे मनुष्योंके अंदर राजा बलवान् होता है और भूमि तथा जल पर भी अपना शासन करता है, जिस बलसे पहले देवोंने देवत्व प्राप्त किया था, हे तेजके देव! वह बल आज मुझे प्राप्त होवे।

४ यत् ते वर्चो जातवेदो बृहद् भवत्याहुतेः ।
यावत् सूर्यस्य वर्च आसुरस्य च हस्तिनः ।
तावन्मे अश्विना वर्च आ धत्तां पुष्करस्रजा ९३३

५ यावच्चतस्रः प्रदिशश्चक्षुर्यावत् समश्नुते ।
तावत् समैत्विन्द्रियं मयि तद्धस्तिवर्चसम् ९३४

६ हस्ती मृगाणां सुषदामतिष्ठावान् बभूव हि ।
तस्य भगेन वर्चसाभिषिञ्चामि मामहम् ९३५

[४] (९३३) हे (जातवेदः) जातवेद! (ते यत् वर्चः आहुतेः बृहत् भवति) तेरा जो तेज आहुतियोंसे बडा होता है (यावत् सूर्यस्य, आसुरस्य हस्तिनः च वर्चः) और जितना सूर्यका और आसुरी हाथी [मेघ] का बल और तेज होता है, हे (पुष्करस्रजौ अश्विनौ) पुष्पमाला धारण करनेवाले अश्वि देवो! (तावत् वर्चः मे आधत्तां) उतना तेज मेरे लिये धारण कीजिये।

हे बने हुएको जाननेवाले देव! जो तेज अग्निमें आहुतियां देनेसे बढता है, जो तेज सूर्यमें है, जो असुरोंमें तथा हाथीमें या मेघोंमें है, हे अश्विदेवो! वह तेज मुझे दीजिये।

[५] (९३४) यावत् (चतस्रः प्रदिशः) जितनी दूर चारों दिशायें हैं, (यावत् चक्षुः समश्नुते) जितनी दूर दृष्टि फैलती है, (तावत् मयि तत् हस्तिवर्चसं इन्द्रियं) उतना मुझमें वह हाथीके समान इंद्रियोंका बल (सं एतु) इकट्ठा होकर मिले।

चार दिशाएं जितनी दूर फैली हैं, जितनी दूर मेरी दृष्टि जाती है, उतनी दूरतक मेरे सामर्थ्यका प्रभाव फैले।

[६] (९३५) (हि सुषदां मृगाणां) जैसा अच्छे बैठनेवाले पशुओंमें (हस्ती अतिष्ठावान् बभूव) हाथी बडा प्रतिष्ठावान् हुआ है, (तस्य भगेन वर्चसा) उसके ऐश्वर्य और तेजके साथ (अहं मां अभिषिञ्चामि) मैं अपने आपको अभिषिक्त करता हूं।

जैसा हाथी पशुओंमें बडा बलवान् है, वैसा बल और ऐश्वर्य मैं प्राप्त करता हूं।

शाकभोजनसे बल बढाना।

शरीरका बल, तेज, आरोग्य, वीर्य आदि बढानेके संबंधका उपदेश करनेवाला यह सूक्त है। प्राणियोंमें हाथीका शरीर (**हस्तिवर्चसं**। मं० १) बडा मोटा और बलवान् भी होता है। हाथी शाकाहारी प्राणी है, इसीका आदर्श वेदने यहां लिया है, सिंह और व्याघ्रका आदर्श लिया नहीं। इससे सूचित होता है कि मनुष्य शाक भोजी रहता हुआ अपना बल बढावे और बलवान् बने। वेदकी शाकाहार करनेके विषयकी आज्ञा इस सूक्त द्वारा अप्रत्यक्षतासे व्यक्त हो रही है, यह बात पाठक यहां स्मरण रखें।

बल प्राप्तिकी रीति।

"अदिति" प्रकृतिका नाम है, उस मूल प्रकृतिमें बहुत बल है, इस बलके कारण ही प्रकृतिको "अदिति" अर्थात् "अ-दीन" कहते हैं। इस प्रकृतिके ही पुत्र सूर्य चंद्रादि देव हैं, इसी लिये इस प्रकृतिको देव माता, सूर्यादि देवोंकी माता, कहा जाता है। मूल प्रकृतिका ही बल विविध देवोंमें विविध रीतिसे प्रकट हुआ है, सूर्यमें तेज, वायुमें जीवन, जलमें शीतलता आदि गुण इस देवोंकी अदिति मातासे इनमें आगये हैं। इसलिये प्रथम मंत्रमें कहा है कि "इन सब देवोंसे प्रकृतिका अमर्याद बल मुझे प्राप्त हो। (मं० १)" सचमुच मनुष्यको जो बल प्राप्त होता है वह पृथ्वी आप तेज वायु आदि देवोंकी सहायतासे ही प्राप्त होता है, किसी अन्य रीतिसे नहीं होता है। यह बल प्राप्त करनेकी रीति है। इन देवोंके साथ अपना संबंध करनेसे अपने शरीरका बल बढने लगता है। जलमें तैरने, वायुमें भ्रमण करने अथवा खेलकूद करने, धूपसे शरीरको तपाने अर्थात् शरीरकी चमडीके साथ इन देवोंका सम्बन्ध करनेसे शरीरका बल बढता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि तंग मकानमें अपने आपको बन्द रखनेसे बल घटता है।

क्षात्रबल संवर्धन।

अथर्व० कां० ४।२२

(ऋषिः—वसिष्ठः, अथर्वा वा। देवता-इन्द्रः)

१ इममिन्द्र वर्धय क्षत्रियं म इमं विशामेकवृषं कृणु त्वम्।
निरमित्रानक्ष्णुह्यस्य सर्वांस्तान्रन्धयास्मा अहमुत्तरेषु ९३६

२ एमं भज ग्रामे अश्वेषु गोषु निष्टं भज यो अमित्रो अस्य।
वर्ष्म क्षत्राणामयमस्तु राजेन्द्र शत्रुं रन्धय सर्वमस्मै ९३७

३ अयमस्तु धनपतिर्धनानामयं विशां विश्पतिरस्तु राजा।
अस्मिन्निन्द्र महि वर्चांसि धेह्यवर्चसं कृणुहि शत्रुमस्य ९३८

द्वितीय मंत्र कहता है कि " (मित्र) सूर्य, (वरुणः) जलदेव, (इन्द्रः) विद्युत्, (रुद्रः) अग्नि अथवा वायु ये विश्व-धारक देव मेरी शक्ति बढावे। " (मं० २) यदि इनके जीवन--रसपूर्ण अमृत प्रवाहोंसे अपना संबंधही टूट गया तो ये देव हमारी शक्ति कैसी बढावेंगे ! इसलिये बल बढानेवालोंको उचित है कि वे अपने शरीरकी चमडीका संबंध इन देवोंके अमृत प्रवाहोंके साथ योग्य प्रमाणसे होने दें। ऐसा करनेसे इनके अंदरका अमृत रस शरीरमें प्रविष्ट होगा और बल बढेगा।

अन्य मंत्रोंका आशय स्पष्टही है। मरियल और बलवान होनेका मुख्य कारण यहां इस सूक्तने स्पष्ट कर दिया है। जो पाठक इस सूक्तके उपदेशके अनुसार आचरण करेंगे वे निःसंदेह बल, वीर्य, दीर्घायु और आरोग्य प्राप्त करेंगे।

[१] (९३६) हे इन्द्र ! तू (मे इमं क्षत्रियं वर्धय) मेरे इस क्षत्रियको बढा, और (मे इमं विशां एकवृषं त्वं कृणु) इस मेरे इस क्षत्रियको प्रजाओंमें अद्वितीय बलवान् तू कर। (अस्य सर्वान् अमित्रान् निरक्ष्णुहि) इसके सब शत्रुओंको निर्बल कर और (अहं उत्तरेषु) मैं-श्रेष्ठ मैं-श्रेष्ठ इस प्रकारकी स्पर्धामें (तान् सर्वान्) उन सब शत्रुओंको (अस्मै रन्धय) इसके लिये नष्ट कर।

हे प्रभो ! इस मेरे राष्ट्रमें जो क्षत्रिय हैं उनके क्षात्रतेजको बढा और इस राजाको सब प्रजाजनोंमें अद्वितीय बलवान् कर। इस हमारे राजाके सब शत्रु निर्बल हो जावे और सब स्पर्धाओंमें इसके लिये कोई प्रतिपक्षी न रहे।

[२] (९३७) (इमं ग्रामे अश्वेषु गोषु आभज) इस क्षत्रियको ग्राममें तथा घोडों और गौवोंमें योग्य भाग दे। (यः अस्य अमित्रः तं निः भज) जो इसका शत्रु है उसको कोई भाग न दें। (अयं राजा क्षत्राणां वर्ष्म अस्तु) यह राजा क्षात्रगुणोंकी मूर्ती होवे। हे इन्द्र ! (अस्मै सर्वं शत्रुं रन्धय) इसके लिये सब शत्रु नष्ट कर।

प्रत्येक ग्राममें, घोडों और गौओंमेंसे इस राजाको योग्य करभार प्राप्त हो। इसके शत्रु निर्बल बन जाय। यह राजा सब प्रकार क्षात्र शक्तियोंकी मूर्ति बने और इसके सब शत्रु दूर हो जावें।

[३] (९३८) (अयं धनानां धनपतिः अस्तु) यह सब धनोंका स्वामी होवे (अयं राजा विशां विश्पतिः अस्तु) यह राजा प्रजाओंका पालक होवे। हे इन्द्र ! (अस्मिन् महि वर्चांसि धेहि) इसमें बडे तेजोंको स्थापन कर। (अस्य शत्रुं अवर्चसं कृणुहि) इसके शत्रुको निस्तेज कर।

इस राजाको सब प्रकारके धन प्राप्त हों, यह राजा सब प्रजाजनोंका उत्तम पालन करे, इस राजामें सब प्रकारके तेज बढें और इसके सब शत्रु फीके पडें।

४ अस्मै द्यावापृथिवी भूरि वामं दुहाथां घर्मदुघे इव धेनू ।
अयं राजा प्रिय इन्द्रस्य भूयात्प्रियो गवामोषधीनां पशूनाम् ॥ ९३९

५ युनज्मि त उत्तरावन्तमिन्द्रं येन जयन्ति न पराजयन्ते ।
यस्त्वा करदेकवृषं जनानामुत राज्ञामुत्तमं मानवानाम् ॥ ९४०

६ उत्तरस्त्वमधरे ते सपत्ना ये के च राजन्प्रति शत्रवस्ते ।
एकवृष इन्द्रसखा जिगीवां छत्रूयतामा भरा भोजनानि ॥ ९४१

७ सिंहप्रतीको विशो अद्धि सर्वा व्याघ्रप्रतीकोऽव बाधस्व शत्रून् ।
एकवृष इन्द्रसखा जिगीवां छत्रूयतामा खिदा भोजनानि ॥ ९४२

[४] (९३९) हे द्यावापृथिवी ! (घर्मदुघे धेनू इव) धारोष्ण दूध देनेवाली गौवोंके समान (अस्मै भूरि वामं दुहाथां) इसके लिये बहुत धनादि प्रदान करो। (अयं राजा इन्द्रस्य प्रियः भूयात्) यह राजा इन्द्रका प्रिय होवे तथा (गवां पशूनां ओषधीनां प्रियः) गौ पशु और औषधियोंका प्रिय होवे ।

ये दोनों द्यावा पृथिवी लोक इसको सब प्रकारके धन देवें, यह राजा सबका प्रिय बने । ईश्वर, मनुष्य, पशुपक्षी और औषधियोंके विषयमें भी यह प्रेम रखे ।

[५] (९४०) (ते उत्तरावन्तं इन्द्रं युनज्मि) तेरे साथ श्रेष्ठ गुणवाले प्रभुको मैं संयुक्त करता हूं। (येन जयन्ति) जिससे विजय होता है और कभी (न पराजयन्ते) पराजय नहीं होता है। (यः त्वा जनानां एकवृषं) जो तुझको मनुष्योंमें अद्वितीय बलवान और (उत मानवानां राज्ञां उत्तमं करत्) मनुष्योंके राजोंमें उत्तम करे ।

यह राजा ईश्वरके साथ अपना आंतरिक संबंध जोड दें, जिससे इनका सदा जय होवे और पराजय कभी न होवे । यह राजा इस प्रकार मनुष्योंमें अद्वितीय बलवान और मनुष्योंके सब राजोंमें श्रेष्ठ होवे ।

[६] (९४१) हे राजन् ! (त्वं उत्तरः) तू अधिक ऊंचा हो, (ते सपत्नाः) तेरे शत्रु और (ये के च ते प्रति-शत्रवः) जो कोई तेरे शत्रु हैं वे (अधरे) नीचे होवें । तू (एक वृषः) अद्वितीय बलवान, (इन्द्रसखा) प्रभुका मित्र (जिगीवान्) जयशाली होकर (शत्रूयतां भोजनानि आभर) शत्रु जैसा आचरण करनेवालोंके भोजनके साधन यहां ला ।

यह राजा ऊंचा बने और इसके सब शत्रु नीचे हों। यह अद्वितीय बलवान्, ईश्वरका भक्त और विजयी होकर शत्रुका पराभव करके उनके उपभोगके पदार्थ प्राप्त करे ।

[७] (९४२) (सिंहप्रतीकः, सर्वाः विशः अद्धि) सिंहके समान प्रभावशाली होकर सब प्रजाओंसे भोग प्राप्त कर। (व्याघ्रप्रतीकः शत्रून अव बाधस्व) व्याघ्रके समान बलवान् होकर अपने शत्रुओंको हटादे । (एकवृषः इन्द्रसखा जिगीवान्) अद्वितीय बलवान, प्रभुका मित्र, और विजयी बनकर (शत्रूयतां भोजनानि आ खिद) शत्रुके समान व्यवहार करनेवालोंके भोजनके साधन छीनकर ले आ ।

सिंह और व्याघ्रके समान प्रतापी बनकर सब प्रजाओंसे योग्य भोग प्राप्त करें और शत्रुओंको दूर करे। अद्वितीय बलवान्, प्रभुका भक्त और विजयी बनकर शत्रुका पराभव करके उनके धन अपने राज्यमें ले आवे ।

स्पर्धा ।

' अहं-उत्तरेषु ' यह शब्द प्रथम मंत्रमें है। यह स्पर्धाका वाचक है । ' मैं सबसे ऊंचा होऊं यह इच्छा प्रत्येक मनुष्यमें रहती है । मैं सबसे आगे बढूं, मैं सबसे अधिक ज्ञान प्राप्त करूं, मैं सबसे अधिक यश, धन प्रभुत्व आदि प्राप्त करके सबसे अधिक प्रतापी यशस्वी और समर्थ बनूं। यह इच्छा हर-एकमें होती ही है। धर्मभावसे इस इच्छाका उत्तम उपयोग करके मनुष्य उच्च हो सकता है। इस प्रकार ऊंचा होनेके लिये अपने शत्रुओंसे अपना बल बढाना चाहिये । शत्रुने जितनी

विद्या, बल, कला और हुनर प्राप्त किया है उससे अपनी विद्या, बल, कला और हुनर बढ जानेसे ही मनुष्यकी उन्नति हो सकती है। उन्नतिका कोई दूसरा मार्ग नहीं है।

यह सूक्त सामान्यतः क्षत्रियोंका यश बढानेका उपदेश करता है और विशेषतः राजाका बल बढानेका उपदेश दे रहा है। सब जगत्में अपना राष्ट्र अग्र स्थानमें रहने योग्य उन्नत करना हरएक राजाका आवश्यक कर्तव्य है। हरएक कार्यक्षेत्रमें जो जो शत्रु होंगे, उनको नीचे करके अपने राष्ट्रके वीरोंको उन्नत करनेसे उक्त सिद्धि प्राप्त हो सकती है।

हरएक मनुष्यकी ऐसी इच्छा होनी चाहिये कि मेरे राष्ट्रके क्षत्रिय वीर बडे विजयी हों, किसी राष्ट्रके पीछे हमारा राष्ट्र न रहे। वेद कहता है कि '**अहं-उत्तरेषु**' यह मंत्र राष्ट्रके हरएक मनुष्यके मनमें जाग्रत रहे। मैं सबसे आगे होऊंगा, मेरा राष्ट्र सब राष्ट्रोंके अग्र भागमें रहेगा, इसकी सिद्धिके लिये हरएकके प्रयत्न होने चाहिये। प्रत्येक मनुष्य अपने गुण और कर्मकी वृद्धिकी पराकाष्ठा करके अपने आपको और अपने राष्ट्रको उच्च स्थानमें लानेका प्रयत्न करे। यह भाव '**अहं उत्तरेषु**' पदमें है। प्रत्येक मनुष्यमें जैसा क्षात्रतेज रहता है उसी प्रकार प्रत्येक राष्ट्रमें भी रहता ही है। इस गुणका उत्कर्ष करना चाहिये, इस गुणके उत्कर्षसे ही शत्रु कम हो सकते हैं।

राजाको चाहिये कि वह अपने राष्ट्रमें शिक्षाका ऐसा प्रबंध करे कि जिससे सब प्रजा एक उद्देश्यसे प्रेरित होकर सब शत्रु-ओंका पराजय करनेमें समर्थ हो। हरएक कार्यक्षेत्रमें किसी प्रकारकी भी असमर्थता न हो। "**विशां एक वृषं कृणु त्वं।**" (मं. १) प्रजाओंमें अद्वितीय बल उत्पन्न करनेवाला तू हो, यह अंदरका तात्पर्य इस मंत्रमें है। यही विजयकी कुंजी है। राजाका प्रधान कर्तव्य यही है कि वह प्रजामें अद्वितीय बलकी वृद्धि करे। यह बल चार प्रकारका होता है, ज्ञानबल, वीर्यबल धनबल और कलाबल। यह चार प्रकारका बल अपने राष्ट्रमें बढा बढाकर अपने राष्ट्रको सब जगत्में अग्र स्थानमें लाकर उसे ऊंचे स्थानपर रखना चाहिये, तभी सब शत्रु हीन हो सकते हैं। यहां दूसरोंको गिरानेका उपदेश नहीं प्रत्युत अपने राष्ट्रका उद्धार करनेका उच्च उपदेश यहां है। दूसरे भी उन्नत हों और हम भी हों। उन्नतिमें स्पर्धा हो, गिरावटकी स्पर्धा न हो। मंत्रका पद '**अहं-उत्तरेषु**' है न कि '**अहं-नीचेषु**'। पाठक इस दिव्य उपदेशका अवश्य मनन करें।

यह सूक्त अत्यंत सरल है और मंत्रका अर्थ और भावार्थ पढनेसे सब आशय मनके सामने खडा हो सकता है, इसलिये इसके स्पष्टीकरणके लिये अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है।

९३६-१ क्षत्रियं वर्धय--क्षत्रियका संवर्धन करो।
२ सर्वान् अमित्रान् निरक्ष्णुहि-- सब शत्रुओंको दूर करो।
३ अहमुत्तरेषु सर्वान् अमित्रान् रन्धय--स्पर्धामें सब शत्रुओंका नाश करो।

९३७-१ अस्य अमित्रं तं निर्भज-इसके शत्रुको भागने दो।
२ ग्रामे अश्वेषु गोषु इमं आभज-- गांवमें घोडों और गौओंमें इसको भाग मिले।
३ अयं राजा क्षत्रियाणां वर्ष्म अस्तु--यह राजा क्षत्रियोंमें श्रेष्ठ हो।

९३८-१ अयं धनानां धनपतिः अस्तु-यह धनोंका पति हो।
२ अयं राजा विशां विश्पतिः अस्तु-- यह राजा प्रजाओंका पति हो।
३ अस्मिन् महि वर्चांसि धेहि-- इसमें बहुत तेज रखो।
४ अस्य शत्रून् अवर्चसं कृणुहि-- इसके शत्रु-ओंको निस्तेज करो।

९३९-१ अस्मै भूरि वामं द्यावापृथिवी दुहाथां— इसको बहुत धन द्यावापृथिवी देवे।
२ अयं राजा इन्द्रस्य प्रियः भूयात्— यह राजा इन्द्रको प्रिय हो।
३ अयं राजा गवां पशूनां ओषधीनां प्रियः भूयात्— यह राजा गौवों, पशुओं और ओषधि-योंको प्रिय है।

९४०- येन जयन्ति, न पराजयन्ते, त्वा जनानां मानवानां राज्ञां एकवृषं उत्तमं करत्— जिससे जय होता है और पराजय नहीं होता, उसके लिये जनों, मानवों और राजाओंमें तुझे अद्वितीय उत्तम बलवान् करता हूं।

९४१- हे राजन् त्वं उत्तर ते सपत्नाः प्रतिशत्रवः ते अधरे— हे राजन् ! तू अधिक श्रेष्ठ बन, तेरे शत्रु नीचे हो जांय।

९४२-१ सिंहप्रतीकः सर्वाः विशः अद्धि— सिंहके समान सब प्रजाओंसे भोग प्राप्त कर कर प्राप्त कर।
२ व्याघ्रप्रतीकः शत्रून् अव बाधस्व— व्याघ्रके समान शत्रुओंको हटा दे।
३ एकवृषः इन्द्रसखा जिगीवान् शत्रूयतां भोजनानि आखिद- अद्वितीय बलवान और विजयी होकर शत्रुओंके भोगके साधन छीन कर ले आ।

अथर्ववेदमें वसिष्ठ ऋषिके सूक्त ।

अथर्ववेद काण्ड १९ तथा २० में वसिष्ठ ऋषिके सूक्त हैं, पर वे सबके सब ऋग्वेदसे ही लिये हैं । वे ये हैं—

१ शं न इन्द्राग्नी	अथर्व	१९।१०।१-१०	ऋग्वेद	७।३५।१-१० (३३२-३४१)
२ शं नः सत्यस्य	,,	१९।११।१-५	,,	७।३५।१२, ११, १३, १४, १५ (३४३, ३४२, ३४४-३४६)
तदस्तुमित्रावरुणा	,,	६	,,	५।४७।७ *
३ उषा अप स्वसुस्तमः	,,	१९।१२।१	,,	१०।१७२।४ *
अथा वाजं देवहितं	,,	२	,,	६।१७।१५ *
४ उदु ब्रह्माण्यैरयत	,,	२०।१२।१-६	,,	७।२३।१-६ (२११-२१६)
ऋजीषी वज्री वृषभः	,,	७	,,	५।४०।४ *
५ बृहस्पते युवमिन्द	,,	२०।१७।१२	,,	७।९७।१० (७७६)
६ यस्तिग्मशृंगो वृषभो	,,	२०।३७।१-११	,,	७।१९।१-११ (१७१-१८१)
७ तुभ्येदिमा सवना	,,	२०।७३।१-२	,,	७।२२।७-८ (२०८-२०९)
प्र वो महे महिवृधे	,,	३	,,	७।३१।१० (२६३)
८ इन्द्र क्रतुं न आभर	,,	२०।७९।१-२	,,	७।३२।२६-२७ (२९१-२९२)
९ यदिन्द्र यावतस्त्वं	,,	२०।८२।१-२	,,	७।३२।१८-१९ (२८३-२८४)
१० अध्वर्यवोऽरुणं दुग्धं	,,	२०।८९।१-७	,,	७।९८।१-७ (७७७-७८३)
११ पिबा सोममिन्द्र मदन्तु	,,	२०।११७।१-३	,,	७।२२।१-३ (२०२-२०४)
१२ अभित्वा शूर नो नुमो	,,	२०।१२१।१-२	,,	७।३२।२२-२३ (२८७-२८८)

इनमें ७ वें मण्डलके जो मन्त्र हैं उनका अर्थ यथास्थान इस पुस्तकमें आचुका है । जो पांचवे और छठे मण्डलके दो मंत्र हैं उनका अर्थ नीचे दिया जाता है ।

ऊपरके मंत्रोंमें सूक्त ३ में (१९।१२।१ में) मंत्र एक ही है, पर वह ऋग्वेदके संवर्त आंगिरसके १०।१७२।४ से प्रथमार्थ और ऋ. बार्हस्पत्यो भरद्वाज ऋषिके ६।१७।१५ से द्वितीय अर्ध लेकर वह एक मंत्र बनाया है ।

जो मंत्र ऋग्वेद सप्तम मंडलमें नहीं हैं उनपर ऐसा * चिन्ह किया है । इनके अर्थ नीचे देते हैं ।

ऋ. ७।३५।१५ मंत्र अथर्व १९।११।५ के स्थानपर है, पर इसमें पाठ भेद है—

ये देवानां **यज्ञिया** यज्ञियानां । ऋ. ७।३५।१५

ये देवानां **ऋत्विजा** यज्ञियानां । अथर्व १९।११।५

ऋग्वेदका पद ' यज्ञिया ' है और अथर्ववेदका पद 'ऋत्विजा' है । अब ऋ. ७ मण्डलमें न आये मंत्रोंका अर्थ देखिये—

अथर्व० १९।११।६ वसिष्ठ

१ तदस्तु मित्रावरुणा तदग्ने शंयोरस्मभ्यमिदमस्तु शस्तम् ।
अशीमहि गाधमुत प्रतिष्ठां नमो दिवे बृहते सादनाय ॥ ६ ॥ ९४३

अथर्व० १९।१२।१ वसिष्ठ

२ उषा अप स्वसुस्तमः संवर्तयति वर्तनिं सुजातता ।
अया वाजं देवहितं सनेम मदेम शतहिमाः सुवीराः ॥ १ ॥ ९४४

अथर्व० २०।१२।७ वसिष्ठ

३ ऋजीषी वज्री वृषभस्तुराषाट् छुष्मी राजा वृत्रहा सोमपावा ।
युक्त्वा हरिभ्यामुप यासदर्वाङ् माध्यन्दिने सवने मत्सदिन्द्रः ॥ ७ ॥ ९४५

॥ इति वासिष्ठं दर्शनम् ॥

---

[१] ९४३ हे मित्र और वरुण (तत् अस्तु) वह कल्याण हमें प्राप्त हो । हे अग्ने ! (शं-योः तत् इदं शस्तं) शान्ति देनेवाला और दुःख दूर करनेवाला यह प्रशंसनीय ज्ञान (अस्मभ्यं अस्तु) हमें प्राप्त हो । (गाधं उत प्रतिष्ठां अशीमहि) हम गंभीरता और प्रतिष्ठाको प्राप्त करें, (बृहते सादनाय दिवे नमः) बडे घर जैसे इस द्युलोक के लिये नमन करते हैं ।

१ तत् शस्तं अस्मभ्यं अस्तु-वह प्रशंसनीय कल्याण हमें प्राप्त हो ।

२ तत् इदं शंयोः शस्तं अस्मभ्यं अस्तु- वह सब प्रशंसनीय सुखदायी और रोगनिवारक ज्ञान हमें प्राप्त हो

३ गाधं उत प्रतिष्ठां अशीमहि- गंभीरता और प्रतिष्ठा हमें प्राप्त हो

४ महते दिवे सादनाय नमः-बडे दिव्य घरके लिये प्रणाम है ।

[२] ९४४ (सुजातता उषा) उत्तम कुलमें उत्पन्न यह उषा अपनी (स्वसुःतमः अप संवर्तयति वर्तनिं) बहिन रात्रीके अन्धेरेको परे हटाती है और मार्गको बताती है । इस उषासे (देवहितं वाजं सनेम) देवोंका हित करनेवाला अन्न तथा बल प्राप्त करेंगे और (सुवीराः शतहिमाः मदेम) उत्तम वीरोंके साथ सौ वर्षतक आनन्द मनायेंगे ।

१ सुजातता तमः अप संवर्तयति— उत्तम कुलीन स्त्री अन्धकारको दूर करती है और (**वर्तनिं**) मार्गको बताती है ।

२ देवहितं वाजं सनेम—विबुधोंका हित करनेके लिये आवश्यक बल हम प्राप्त करेंगे । बल प्राप्त करके सज्जनोंका हित करना चाहिये ।

३ सुवीराः शतहिमाः मदेम— उत्तम वीरोंके साथ रहकर हम सौ वर्ष पर्यंत आनन्दपूर्ण जीवन व्यतीत करते रहेंगे ।

[३] ९४५ (ऋजीषी वज्री) सोम जिसको प्रिय है, वज्र धारण करनेवाला, (वृषभः तुराषाट्) बलवान् त्वरासे शत्रुको दबानेवाला, (शुष्मी वृत्रहा सोमपावा राजा) सामर्थ्यवान् वृत्रका नाश करनेवाला, सोमरस पीनेवाला राजा इन्द्र (हरिभ्यां युक्त्वा) अपने दोनों घोडोंको रथके साथ जोडकर (अर्वाङ् उप यासद्) हमारे समीप आजावे और (माध्यन्दिने सवने मत्सद्) मध्यदिनके सवनमें आनन्दित हो जावे ।

वीर (वज्री) वज्र धारण करनेवाला, (वृषभः) बलिष्ठ, (शुष्मी) सामर्थ्यशाली (तुराषाट्) त्वरासे शत्रुको दबानेवाला (वृत्रहा) घेरनेवाले शत्रुको भी मारनेवाला (राजा) उत्तम राज्यशासन करनेवाला हो, यह घोडोंको अपने रथको जोते और अपने राज्यमें भ्रमण करे ।

यहां वासिष्ठ ऋषिका दर्शन समाप्त हुआ ।

देवताओंकी मन्त्रसंख्या

१ अग्निः १—१४५ कुलमंत्र संख्या १४५
[आप्रीसूक्तं-इध्मः समिद्धोऽग्निर्वा १, नराशंसः १, इळः १, बर्हिः १, देवीर्द्वारः १, उषासानक्ता १, दैव्यौ होतारौ प्रचेतसौ १, तिस्रोदेव्यः सरस्वतीळाभारत्यः १, त्वष्टा १, वनस्पतिः १, स्वाहाकृतयः १, एता अग्निरूपा देवताः] २६-६६ वैश्वानरोऽग्निः— ७७-७२; १०६-१०८, अग्नि ८२६, ८३०; ८४०, ९२०-९२१ १३

२ इन्द्रः १४६-३०६ १६१
सुदा. पैजवनः २२-२५ (१६७-१७०) वासिष्ठ पुत्राः १-९ (२९३-३०१), वासिष्ठः १०-१४ (३०२-३०६); इन्द्र. ७६७, ७७७-७८२; ८२४; ८३२; ८३५-८३८: ९३६-९४२; २०

३ विश्वेदेवाः ३०७—४५२ १४६
अहिः ३२२, अहिर्बुध्न्यः ३२३, सविता ३६४-३६९; भगः (उत्तरार्धः) ३६९; वाजिनः ३७०-३७१; उषसः ३९२; दाधिक्राः ४०४-४०८, सविता ४०९-४१२, रुद्रः ४१३-४१६, आपः ४१७-४२०, ऋभवः ४२१-४२४, आपः ४२५-४२८, मित्रावरुणौ ४२९; अग्निः ४३०; नद्यः ४३२, आदित्याः ४३६-४३८, द्यावापृथिवी ४३९-४४१, वास्तोष्पतिः ४४२-४४४, वास्तोष्पति ४४५, इन्द्रः ४४६-४५२; ९०२-९०९ ९३०-९३६; १५

४ मरुतः ४५३-५०२ ५०
रुद्रः ५०२; मरुतः ८३४; १

५ मित्रावरुणौ ५०३-५६२ ६०
सूर्यः ५०३, ५२२-५२४; ५२८-५३२; ५५७-५५९, आदित्याः ५४७-५५६;

६ अश्विनौ ५६३--६१८ ४६
८४२--८४७; ६

७ उषसः ६१९--६५८ ४०

८ इन्द्रावरुणौ ६५९ -६८८; ३०

९ वरुणः ६८९--७१५; २७

१० वायुः ७१६--७३४; १९
इन्द्रवायू ७२० -७२२, ७२४; ७२६--७२९; ७३१, ७३३;

११ इन्द्राग्नी ७३५--७५४; २०

१२ सरस्वती ७५५--७६६, १२

१३ बृहस्पतिः ६
७६८, ७७०--७७४,

१४ इन्द्राब्रह्मणस्पती २
७६९; ७७५.

१५ इन्द्राबृहस्पती २
७७६; ७८३;

१६ विष्णुः ११
७८४--७८६, ७९०, ७९१--७९७,

१७ इन्द्राविष्णू ३
७८७--७८९;

१८ पर्जन्यः १७
७९८--८०६,
मण्डूकाः ८०७--८१६;

१९ इन्द्रासोमौ ८
८१७-८२३, ८४१;

२० सोमः ५७
८२५; ८२८--८२९; ८४८--९०१;

२१ देवा १५
८२७; ९१०--९१९; ९४२--९४५;

२२ ग्रावाणः १
८३३;

२३ पृथिव्यन्तरिक्षे १
८३९;

वसिष्ठ ऋषिका परिचय

वसिष्ठ ऋषिकी उत्पत्तिके संबंधमें बृहद्देवता ग्रन्थमें इस तरह लिखा है—

तयोरादित्ययोः सत्रे दृष्ट्वाप्सरसमुर्वशीम् ।
रेतश्चस्कंद तत्कुम्भे न्यपतद्वासतीवरे ७८३
तेनैव तु मुहूर्तेन वीर्यवन्तौ तपस्विनौ ।
अगस्त्यश्च वसिष्ठश्च तत्रर्षी संबभूवतुः ७८४
बहुधा पतितं रेतः कलशे च जले स्थले ।
स्थले वसिष्ठस्तु मुनिः संभूत ऋषिसत्तमः ७८५
कुम्भे त्वगस्त्य संभूतो जले मत्स्यो महाद्युतिः ।
उदियाय ततोऽगस्त्यः शम्यामात्रो महातपाः ७८६
मानेन संमितो यस्मात् तस्मान्मान्य इहोच्यते ।
यद्वा कुम्भादृषिर्जातः कुम्भेनापि हि मीयते ७८७
कुम्भ इत्यभिधानं च परिमाणाय लक्ष्यते ।
ततोऽप्सु गृह्यमाणासु वसिष्ठः पुष्करे स्थितः ७८८
सर्वतः पुष्करे तं हि विश्वेदेवा अधारयन् ७८९

बृहद्देवता ५।७८३-७८९

निरुक्तमें भी है—

तस्या दर्शनान्मित्रावरुणयो रेतश्चस्कंद ।

निरुक्त ५।१३

तथा सर्वानुक्रमणीमें—

मित्रावरुणयोर्दीक्षितयोरुर्वशीमप्सरसं दृष्ट्वा वासतीवरे कुम्भे रेतोऽपतत्ततोऽगस्त्य-वसिष्ठावजायेताम् । सर्वानुक्रमणी १।१६६

"मित्र और वरुण यज्ञ कर रहे थे । उन्होंने यज्ञकी दीक्षा ली थी । इतनेमें उर्वशी अप्सरा यज्ञस्थानमें आगई । मित्र और वरुणोंने उसे वहां देख लिया । उनका मन विचलित हो गया और उस कारण उनका वीर्य वासतीवर नामक यज्ञपात्रमें गिर पडा । वहा वह वीर्य कुछ समयतक रहा । उसी समय उससे अगस्त्य और वसिष्ठ उत्पन्न हुए । वे बडे तपस्वी तथा विशेष सामर्थ्यवान् थे । यह वीर्य वासतीवर नामक कुम्भमें गिरा, वैसाही वहांके जलमें तथा स्थलमें भी गिर गया था । जो वीर्य भूमि पर गिरा था, उससे महामुनि वसिष्ठ ऋषिका जन्म हुआ। अगस्त्य ऋषि उस कुम्भमें उत्पन्न हुआ और उस जलमें तेजस्वी मत्स्य उत्पन्न हुआ । महातपस्वी अगस्त्य ऋषि शम्याके समान उत्पन्न हुआ । [शम्या वह खीलक है जो गाडीको बैल जोतनेके स्थानपर लगाया होना है । इसकी लंबाई बीस अंगुल होती है ।] अगस्ति ऋषि जन्मके समय इतना सा था । इसका नाप लिया था इसलिये इसको यहां ' मान्य ' कहा गया है । अथवा वह कुम्भसे उत्पन्न हुआ इसलिये कुम्भसे भी उसका परिमाण हुआ । कुम्भ यह भी एक मापनेका साधन है । वहामें जल ले जानेपर वसिष्ठ कमलमें खडा रहा और उस कमलको चारों ओरसे देवोंने सहारा दिया था । " वहासे निकलनेपर वसिष्ठने बडा तप किया ।

यह कथा जैसी यहा लिखी है वैसी ही हुई होगी, ऐसा दीखता नहीं है । क्योंकि उर्वशीको देखते ही मित्र और वरुण इन दो आदित्योंका वीर्य पतन हो जायगा और वह कुम्भमें इकट्ठा होगा और वहा इकट्ठा होते ही उस वीर्यसे इन दो ऋषियोंका जन्म होगा, यह ठीक दीखता नहीं है ।

मित्र और वरुण ये दो देव परस्पर पृथक् हैं, ये एक ही नहीं हैं । इसलिये इन दोनोंका वीर्य एक समय ही किसी एक पात्रमें गिरना यह असंभवसा प्रतीत होता है । अतः यह कथा रूपकात्मक होगी । तथापि इसकी पूरी खोज यहा नहीं हो सकती ।

अगस्ति ऋषि दक्षिण दिशाको निर्भय करनेवाला था । इसने समुद्रके पार भी प्रवास किया था । आज ' क्याबोडिया ' जिस भूविभागको कहते हैं, वह ' कुम्भज-द्वीप ' ही है । वहां अगस्ति गया था । दक्षिणमें आतापी वातापी ये राक्षस प्रवासियोंका वध करते थे । वहां अगस्ति गया और इस अगस्त्यको उन्होंने नरमास खिलाया । यह बात जब इसको विदित हुई तब इसने दाया हाथ अपने पेटपर फिराया और कहा कि इसको तो मैंने हजम किया है । इस तरह यह अगस्त्य ऋषि वीर

ष्टिका था। इसका प्रवास दक्षिण भारत, बालीद्वीप, जावा, सुमात्रा आदितक हुआ था और वहां उन्होने वैदिकधर्मका खूब प्रचार किया था। वसिष्ठके कुटुंबी भाई ऐसे प्रभावशाली थे।

वसिष्ठके पूर्वज

यहां वसिष्ठके पूर्वजोंका विचार करना चाहिये। इसका वंश-वृक्ष इस तरह है—

प्रजापति
|
मरीची
|
कश्यप (इनकी १३ स्त्रियां थीं। अदिति, दिति, दनु, काला, दनायु, सिंहिका, मुनि, क्रोधा, विश्वा, वरिष्ठा, सुरभि, विनता, कद्रू। ये दक्षकी पुत्रियां थीं और कश्यपके साथ विवाहित हुई थीं।)

कश्यप×अदिति
|
१२ आदित्य

[भग अर्यमा--अंश-- **" मित्र--वरुण "**--धाता- विधाता - विवस्वान्--त्वष्टा--पूषा--इन्द्र--विष्णु]

अर्थात् अपने मित्रावरुण कश्यपके पुत्र हैं। इन मित्रावरुणोंसे पूर्वोक्त प्रकार अगस्त्य और वसिष्ठका जन्म उर्वशीके कारण हुआ। वसिष्ठके पूर्वजोंके विषयमें इतने ही नाम मिलते हैं। मित्र-वरुण देव थे, आदित्य थे, ऐसा ऊपर कहा है। ये राजा थे ऐसा निरुक्तकार लिखते हैं—

दक्षस्य वाऽदिते जन्मनि व्रते राजाना मित्रावरुणा विवाससि। ऋ० १०।६४।५
जन्मनि व्रते कर्मणि राजानौ मित्रावरुणौ परिचरासि। निरुक्त

यहां मन्त्रके पदोंके आधारसे मित्रावरुण राजा हैं ऐसा निरुक्तकारने कहा है। मंत्रोंमें भी मित्र वरुणको राजा कहा है। विश्वराज्यके शासन कर्ममें ये नियुक्त हुए हैं यह इसका अर्थ है।

ऊपर जो वसिष्ठकी उत्पत्तिकी कथा दी है वह मंत्रोंके पदोंसे भी वैसी ही दीखती है, वे मंत्रभाग ये हैं—

उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन्मनसोऽधिजातः। द्रप्सं स्कन्नं ब्रह्मणा दैव्येन विश्वे देवाः पुष्करे त्वाददन्त॥ ऋ० ७।३३।११

" हे ब्रह्मन् वसिष्ठ ! तू (मैत्रावरुणः) तू मित्र और वरुणसे जन्मा और (उर्वश्याः मनसः अधिजातः) उर्वशीके मनसे उत्पन्न हुआ है। (द्रप्सं स्कन्नं त्वा) जलमें गिरे हुए तुझे (दैव्येन ब्रह्मणा) दिव्य ज्ञानसे (विश्वेदेवाः त्वा पुष्करे आददन्त) सब देवोंने तुझे कमलमें धारण किया था। "

मित्र और वरुणका मिलकर वसिष्ठ पुत्र है, उर्वशीका प्रभाव मनपर पडा और उससे रेतका पतन हुआ। कमलमें देवोंने इसका धारण किया। इत्यादि कथाके सूचक पद मंत्रमें हैं। इन शब्दोंसे ही पता चलता है कि यह रूपकालंकार है और वास्तविक कथा नहीं है। वसिष्ठके महत्त्वके विषयमें तैत्तिरीय संहितामें निम्न लिखित वचन देखने योग्य हैं—

ऋषयो वा इन्द्रं प्रत्यक्षं नापश्यन्।
तं वसिष्ठः प्रत्यक्षं अपश्यत्।...
तस्मै एतान् स्तोमभागानब्रवीत्। तै० सं० ३।५।२

' ऋषि इन्द्रका-आत्माका--प्रत्यक्ष दर्शन न कर सके। उसका दर्शन वसिष्ठने किया।' यह वसिष्ठकी श्रेष्ठताका सूचक वचन है। सबसे प्रथम वसिष्ठने इन्द्रका साक्षात् दर्शन किया, इसलिये वसिष्ठ सब ऋषियोंमें श्रेष्ठ और माननीय बना।

मित्रावरुण वसिष्ठके रक्षक

यौ कश्यपमवथो यौ वसिष्ठं तौ नो मुञ्चतमंहसः।
अथर्व ४।२९।३

" मित्र और वरुण देवोंने कश्यप और वसिष्ठका संरक्षण किया था, वे हमें पापसे मुक्त करें। " अर्थात् वसिष्ठ ऋषि मित्रावरुणोंका प्रिय था। यहां अपने वीर्यसे उत्पन्न होनेके कारण इन्होंने वसिष्ठका संरक्षण किया ऐसा नहीं मान सकते, क्योंकि कश्यपका संरक्षण भी उन्होंने किया था। मित्रावरुणों-का पिता कश्यप था और मित्रावरुण वसिष्ठके पिता थे ऐसा संबंध यहां लगाया जा सकता है। अश्विदेवोंने भी वसिष्ठका संरक्षण किया था—

वसिष्ठं याभिरजरावजिन्वतम्। ऋ० १।११२।९

' हे अश्विनौ ! तुम जरा रहित हो, तुमने अपने उत्तम संरक्षणके साधनोंसे वसिष्ठका संरक्षण किया था।'

सप्त ऋषियोंमें वसिष्ठकी गणना

विश्वामित्र जमदग्ने वसिष्ठ भरद्वाज गोतम वामदेव। शर्दिर्नो अत्रिरग्रभीन्नमोभिः सुसंशासः पितरो मृडता नः ॥ अथर्व० १८।३।१६

' हे विश्वामित्र जमदग्नि, वसिष्ठ, भरद्वाज, गोतम, वामदेव ! अत्रि ऋषिने हमारे घरका संरक्षण किया था। हे हमारे प्रशंसनीय संरक्षको ! उत्तम अन्नोंसे हमें सुखी करो। '

यहां सप्त ऋषियोंमें वसिष्ठकी गणना है। तथा ये ऋषि अन्न देकर सुखी कर सकते हैं, इतना इनका सामर्थ्य है ऐसा इस मंत्रसे दीखता है। ' नम. ' का अर्थ ' नमन, अन्न और शस्त्र ' है। अन्न और शस्त्र देकर हमारा संरक्षण करें ऐसा भी भाव इसका हो सकता है।

हितकर्ता वसिष्ठ

अग्निरत्रिं भरद्वाजं गविष्ठिरं प्रावन्नः कण्वं त्रसदस्युमाहवे। अग्निं वसिष्ठो हवते पुरोहितो मृळीकाय पुरोहितः ॥ ऋ० १०।१५०।५

' अग्नि, अत्रि, भरद्वाज, गविष्ठिर, कण्व और त्रसदस्युका युद्धमें संरक्षण करता है। उस अग्निका गुणगान जनताका हितकर्ता वासिष्ठ करता है, वही मृळीकका हित करता है। ' यहां वसिष्ठको पुरोहित अर्थात् पहिलेसे हित करनेवाला कहा है। वासिष्ठ ऐसे कर्म करता है जिससे सबका हित होता है।

वसिष्ठ देवोंको वन्दन करता है।

देवान् वसिष्ठो अमृतान् ववन्दे ये विश्वा भुवनानि प्रतस्थुः। ते नो रासन्तामुरुगायमद्य यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥

ऋ० १०।६५।१५; १०।६६।१७

' वासिष्ठ अमरदेवोंको वन्दन करता है, जो देव सब भुवनोंमें जाते हैं। वे हमें प्रशंसनीय धन देवें। हे देवो ! तुम हमारा संरक्षण संरक्षणके उत्तम साधनोंसे करो।

वसिष्ठकी श्रेष्ठता

नि होता होतृषदने विदानः त्वेषो दीदिवाँ असदत्सुदक्षः। अदब्धव्रतप्रमतिर्वसिष्ठः सहस्रंभरः शुचिजिह्वो अग्निः ॥

ऋ० २।९।१, वा० य० ११।३६

(विदानः) ज्ञानी (होता) यज्ञकर्ता (त्वेष दीदिवा तेजस्वी बलवान् (सुदक्षः) उत्तम दक्ष, (अ दब्ध-व्रत-प्रमतिः) न दबकर कार्य करनेमें जिसकी बुद्धि है ऐसा (सह भरः) हजारोंका भरण-पोषण करनेवाला (शुचिजिह्. पवित्र भाषण करनेवाला (अग्नि. वासिष्ठ) अग्नि समान तेजस्वी वसिष्ठ है।

यह मंत्र वास्तवमें अग्निके वर्णन पर है और यहां वसिष्ठ अर्थ निवासकर्ता है। अग्नि निवास करनेवाला है इसलिये वसि है। तथापि अग्निको विशेषण मानकर वसिष्ठका वर्णन करने-वाला यह मंत्र है ऐसा कई मानते हैं और ये कहते हैं कि यह मंत्र वासिष्ठका वर्णन कर रहा है। ज्ञानी, याजक, तेजस्वी दाता, दक्ष, सतत कर्तव्यकर्म करनेमें तत्पर, सहस्रोंका भरण पोषणकर्ता, पवित्र भाषण करनेवाला, अग्नि समान दीप्तिमान अग्नि है। इस मंत्रमें ज्ञानीके उत्तम गुण कहे हैं इसमें संदेह नहीं है, पर यह मंत्र वसिष्ठका निःसंदेह वर्णन कर रहा है, ऐसा कहना कठिन है।

सामगान करनेवाला वसिष्ठ

वसिष्ठ ऋषि. त्रिवृत् रथंतरं। वा० य० १३।५८

रथंतर सामका गायक वसिष्ठ ऋषि है। वसिष्ठ ऋषि इस सामगानका योजक है। तथा—

प्रथश्च यस्य सप्रथश्च नामाऽऽनुष्टुभस्य हविषो हविर्यत्। धातुर्द्युतानात्सवितुश्च विष्णो रथन्तरमाजभारा वसिष्ठः ॥ ऋ० १०।१८१।१

' प्रथ और सप्रथ जिसके नाम हैं, जिसको अनुष्टुभ छन्दके मंत्रद्वारा हवि दिया जाता है, वह रथन्तर साम वसिष्ठ ऋषि तेजस्वी धाता सविता और विष्णुसे प्राप्त करके लाया। '

इस तरह वसिष्ठके उत्तम सामगायक होनेका वर्णन दीखता है।

वसिष्ठका जन्म

विद्युतो ज्योतिः परि संजिहानं मित्रावरुणा यदपश्यतां त्वा। तत्ते जन्मोतैकं वसिष्ठाऽगस्त्यो यत्त्वा विश आजभार ॥ १० ॥
उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन् मनसोऽधि जातः। द्रप्सं स्कन्नं ब्रह्मणा दैव्येन विश्वेदेवा पुष्करे त्वाददन्त ॥ ११ ॥ ऋ० ७।३-

हे वसिष्ठ ! (यत् विद्युतः ज्योतिः परि संजिहानं त्वा) जब बिजलीकी ज्योतिका परित्याग करनेवाले तुझको (मित्रावरुणौ अपश्यतां) मित्र तथा वरुणोंने देखा (तत् ते एकं जन्म) वह तेरा एक जन्म है, (यत् त्वा अगस्त्यः) जब तुझे अगस्त्यने (विशः आजभार) प्रजाजनोंमें बाहर लाया । प्रकट किया । हे वसिष्ठ ! तू (मैत्रावरुणः असि) तू मित्र वरुणका पुत्र है । हे ब्राह्मण ! (उर्वश्याः मनसः अधिजातः) उर्वशीके मनसे उत्पन्न हुआ है । इस समय (द्रप्सं स्कन्नं) वीर्यका पतन हुआ था (दैव्येन ब्रह्मणा) दिव्य मन्त्रके द्वारा (विश्वे देवा पुष्करे त्वा आददन्त) सब देवोंने कमलमें तुझे धारण किया ।

इन दो मंत्रोंमें वसिष्ठके जन्मके संबंधमें बहुत सी बातें है ऐसा प्रतीत होता है । मित्र और वरुणने बिजलीका तेज देखा तब उर्वशीके विषयमें उनके मनमें कुछ काम भाव उत्पन्न हुआ। जिससे रेतका स्खलन हुआ और वसिष्ठका जन्म हुआ और सब देवोंने कमलमें उसका धारण किया । यद्यपि इस कथाके ये पद इन मंत्रोंमें हैं । तथापि मित्रवरुणका वीर्य एक समय पतन होना और कुम्भमें इन दोनों ऋषियोंका जन्म होना यह अस्वाभाविकसा प्रतीत होता है । यह कथा इसी वर्णनसे आलंकारिकसी प्रतीत होती है । और अगले मंत्रमें देखिये-

स प्रकेत उभयस्य प्रविद्वान् त्सहस्रदान उत वा सदानः । यमेन ततं परिधिं वयिष्यन्नप्सरसः परि जज्ञे वसिष्ठः ॥१२॥ सत्रे ह जाताविषिता नमोभिः कुम्भे रेतः सिषिचतुः समानम् । ततो ह मान उदियाय मध्यात्ततो जात-मृषिमाहुर्वसिष्ठम् ॥ १३ ॥ ऋ० ७।३३

(सः वसिष्ठः उभयस्य प्र विद्वान्) वह वसिष्ठ द्युलोक और भूलोकका सब ज्ञान रखनेवाला (सहस्रदानः उत वा सदानः) सहस्रों प्रकारके दान देनेवाला अथवा सर्वस्वका दान करनेवाला, (यमेन ततं परिधिं वयिष्यन्) यमने फैलाये हुए आयुष्य रूपी वस्त्रको बुननेवाला (अप्सरसः परिजज्ञे) अप्सरासे उत्पन्न हुआ । वसिष्ठ अप्सरासे उत्पन्न हुआ । (सत्रे ह जातौ) सत्रमें दीक्षा लिये (नमोभिः इषिता) मन्त्रोंसे प्रेरित हुए मित्रावरुणोंने (कुम्भे रेतः समानं सिषिचतुः) घडेमें अपना वीर्य एक ही समय अथवा समान रीतिसे गिरा दिया । (ततः मध्यात् मानः उदियाय) उसके मध्यसे माननीय अगस्त्य ऋषि उत्पन्न हुआ (ततः वसिष्ठं जातं आहुः) उसके बाद वसिष्ठ जन्मा ऐसा कहते हैं ।

भारतोंकी एकता करनेवाला वसिष्ठ

दण्डा इवेद्गोअजनास आसन् परिच्छिन्ना भरता अर्भकासः । अभवच्च पुर एता वसिष्ठ आदित् तृत्सूनां विशो अप्रथन्त ॥ ६ ॥ ऋ० ७।३३

(गो अजनासः दण्डा इव) गौओंको हांकनेके दण्ड जैसे छोटेसे होते हैं वैसे (भरताः अर्भकासः परिच्छिन्नाः आसन्) भरत लोग छोटे बाल बुद्धिवाले और आपसमें विभक्तसे थे । इनका (वसिष्ठः पुरएता अभवत्) इनका अग्रगामी नेता वसिष्ठ हुआ जिससे (आत् इत् तृत्सूना विशः अप्रथन्त) भरतोंकी प्रजा बढने लगी । भारतीय लोग आपसमें एकता नहीं रखते थे । थोडे थोडे फटकर रहते थे । आपसमें मिलते नहीं थे, इसलिये असंघटित रहनेके कारण पराभूत होते थे । इस कारण ये बालबुद्धि अज्ञानी तथा निर्बल रहते थे और उन्नत नहीं होते थे । ऐसे समय इनका अगुवा वसिष्ठ हुआ । इस वसिष्ठने इस प्रजाकी संघटना की । इनके अन्दर प्रौढता, ज्ञान और संघटित होनेका बल निर्माण किया । इस कारण ये ही लोग बढने लगे और सब प्रकारसे उन्नत हुए । यह वसिष्ठ इस तरह संघटना करनेवालेके रूपमें प्रसिद्ध है ।

एवा वसिष्ठ इन्द्रमूतये नॄन् कृष्टीनां वृषभं सुते गृणाति । ऋ० ७।२६।५

' वसिष्ठ मानवोंका संरक्षण करनेके लिये, बलवान् प्रभुका तथा मानवी वीरोंका काव्यगान करता है । ' उद्देश्य यहां यह है कि इस स्तोत्रगायनसे मनुष्य वीरतासे प्रभावित हो जाय और वैसी वीरता स्वयं करके दिखावें । वीर बनें और अपना प्रभाव बढावें ।

राक्षसोंका नाशक वसिष्ठ

प्र ये गृहादममदुस्त्वाया पराशरः शतयातु-र्वसिष्ठः । न ते भोजस्य सख्यं मृषन्ताऽधा सूरिभ्यः सुदिना व्युच्छान् ॥ ऋ० ७।१८।२१

(परा शर: शत-यातुः वासिष्ठः) दूरसे शरसंधान करने-वाला, सैंकडों यातना देनेवालोंको-राक्षसादिकों-दूर करनेवाला, बसानेवाला यह वसिष्ठ है । (त्वायाः) तेरे भक्त (गृहात् प्र अममदुः) घर घरसे तुझे संतुष्ट करते हैं । (ते भोजस्य सख्यं न मृषन्त) वे भोजन देनेवालेकी मित्रताका कदापि विस्मरण नहीं होने देते । (अध सूरिभ्यः सुदिना वि उच्छान्) और इन ज्ञानियोंके लिये उत्तम दिन भी दे देते हैं ।

(परा-शरः) दूरसे शरोंको फेंकनेवाला, (शत-यातु) सैकडों दुष्टोंको यातना देनेवालोंका सामना करनेवाला, उनको दूर करनेवाला अथवा दुष्टोंको यातना देनेवाला वसिष्ठ है। वसिष्ठ वह है कि जो वसाहत करता है, बसाता है। बसने-वालोंको सुरक्षित रखता है। श्रेष्ठ ज्ञानियोंको उत्तम दिन देता है, उनको सुख देता है। उनका अभ्युदय करता है। उनका जीवन सुखपूर्ण करता है।

प्रजाहित करनेवाला वसिष्ठ

एवा वसिष्ठ इन्द्रमूतये नृन् कृष्टीनां वृषभं सुते गृणाति। ऋ० ७।२६।५

(वसिष्ठः कृष्टीनां नृन् ऊतये) वसिष्ठ प्रजाजनोंकी सुरक्षाके लिये उनके नेताजनोंका तथा (इन्द्रं) इन्द्रका (सुते गृणाति) यज्ञमें वर्णन करता है। वीर पुरुषोंके वर्णनसे जनतामें वीरताका भाव निर्माण करना और उससे उनका संरक्षण करना यह उद्देश यहां है।

अनेक वसिष्ठ

नू त्वामग्न ईमहे वसिष्ठा ईशानं सूनो सहसो वसूनाम्। ऋ० ७।७।७

त्वं वरुण उत मित्रो अग्ने त्वां वर्धन्ति मति-भिर्वसिष्ठाः॥ ऋ० ७।१२।३

वयं नु ते दाश्वांसः स्याम ब्रह्म कृण्वन्तो हरिवो वसिष्ठाः ऋ० ७।३७।४

इन मंत्रोंमें ' **वसिष्ठाः** ' यह बहुवचन है। अनेक वसिष्ठ थे। ये वसिष्ठ कुलके होंगे। वसिष्ठके कुलके सब जन वसिष्ठ ही कहलाते हैं। वसिष्ठ कुलका गोत्र नाम है, इसका व्यक्ति नाम कुछ और होगा। बहुवचनसे ऐसा प्रतीत होता है। ये अग्निपूजक तथा इन्द्रपूजक अर्थात यज्ञ करके इनको प्रसन्न करते थे।

वसिष्ठका सत्कार

उक्थभृतं सामभृतं बिभर्ति ग्रावाणं बिभ्रत् प्र वदात्यग्रे। उपैनमाध्वं सुमनस्यमाना आ वो गच्छाति प्रतृदो वसिष्ठः॥ ऋ० ७।३३।१४

हे (प्रतृद.) भरत लोगो ! (वसिष्ठः वः आगच्छति) वसिष्ठ आपके पास आरहा है। (सुमनस्यमानाः एनं आध्वं) उत्तम मनकी प्रसन्नताके साथ इनका सत्कार करो। यह वसिष्ठ आनेपर (अग्रे उक्थभृतं सामभृतं बिभर्ति) वह उक्त और सामगानोंका धारण-पोषण करता है, (ग्रावाणं बिभर्ति) सोम कूटनेके पत्थरोंका धारण करता है। अर्थात् यज्ञ प्रक्रियामें वह प्रवीण है और वह (प्रवदाति) उपदेश भी करता है।

इस तरहका यह वसिष्ठ है, अतः वह सत्कार करने योग्य है। वसिष्ठका वर्णन वसिष्ठके मन्त्रोंमें तथा अन्यान्य ऋषियोंके मन्त्रोंमें जो आया है, उसका यह स्वरूप है। इस तरहके कुल मंत्र करीब ९४ होंगे जिनमें वसिष्ठका उल्लेख है। ' वसिष्ठ ' शब्द आनेसे वह मंत्र वसिष्ठ ऋषिका वर्णन करता है ऐसा मानना भ्रम होगा। इसका उत्तम उदाहरण " ऋ० २।९।१ नि होता " यह मंत्र है। यह मंत्र अग्नि देवताका और गृत्समद ऋषिका है। इसमें अग्निका विशेषण ' वसिष्ठ ' है। ' निवास हेतु ' यह उसका अर्थ यहां है। वसिष्ठ-ऋषिका वर्णन यह मंत्र नहीं करता। पर कइयोंका मत यह है कि यहां अग्निको विशेषण मान कर भी अर्थ होता है। इसलिये इस मतको हमने यहां उद्धृत किया है। जिन मंत्रोंमें साक्षात् वसिष्ठ ऋषिका तथा वसिष्ठगोत्री ऋषियोंका उल्लेख है ऐसे मंत्र और सूक्त ७ वें मंडलमें है। वे हमने यहां दिये हैं। इस विषयमें ऋ० ७।३३ वा सूक्त देखने योग्य है। यह सूक्त तथा वसिष्ठ-का वर्णन करनेवाले अन्य मंत्र देखनेपर भी वसिष्ठ ऋषिका निर्णय नहीं हो सकता। इसका कारण यह वर्णन असंभवनीयसा है। देखिये—

१ मित्र और वरुण यज्ञकी दीक्षा लेकर यज्ञ कर रहे थे,

२ वहां उर्वशी आ गयी, मित्र और वरुणोंने उस अप्सरा को देखा,

३ देखते ही उनका मन विचलित हुआ और उनका रेत घडेमें गिरा, उसका कुछ भाग स्थलपर और कुछ भाग जलमें गिरा,

४ जो जलपर गिरा उससे अगस्ति उत्पन्न हुआ और जो स्थलपर गिरा उससे वसिष्ठ उत्पन्न हुआ।

इस वर्णनमें एकदम दोनों पुरुषोंके मनमें कामभावना उत्पन्न होना, दोनोंका वीर्य एकदम गिरना, वह घडेमें जलपर और स्थलपर पहुंचना और उससे उसी समय ऋषियोंकी

उत्पत्ति होना यह मानव की उत्पत्तिके ज्ञान के अनुसार असंभव है ।

जहा वेदमें वसिष्ठका नाम आता है वहा **' मैत्रावरुणि-वसिष्ठः '** ऐसा ही ऋषि दिया जाता है । मंत्रमें भी **' उत असि मैत्रावरुणः वसिष्ठः '** (ऋ० ७।३३।११) तू मित्र और वरुणसे जन्मा है ऐसा वर्णन है । अप्सरा उर्वशी-का दर्शन, कुम्भमे वीर्यका पतन, वहांसे ऋषिकी उत्पत्ति, उर्वशीके पास बालपनमें रहना ये सब वर्णन मंत्रोंमें दीख रहे हैं । ये वर्णन अस्वाभाविक हैं इसलिये ये वर्णन आलंकारिक है ऐसा कइयोंने माना है । आलंकारिक भी किस तरह है, इसका स्पष्टीकरण अबतक किसीने भी नहीं किया है और जो किया है वह समाधानकारक नहीं है ।

उर्वशीको विद्युत् माना है । **' उरु वशो यस्याः '** जिसके वशमें सब विश्व है वह विद्युत् यह उर्वशी है और वह अप्सरा (जलमें संचार करनेवाली) है । मित्र (हैड्रोजन) वायु है और वरुण प्राण वायु (आक्सिजन) है । इन दोनों वायुओंके मिलनेसे जल निर्माण होता है । इस जलका नाम वेदमें ' रेतस् ' है । इस तरह मित्रावरुण जल निर्माण करते हैं । यह अलंकार यहा है ऐसा कइयोंका कथन है । पर इस रेतसे अगस्ति और वसिष्ठ उत्पन्न होते हैं वे कौन हैं । यह प्रश्न अनिर्णीतसा रहता है । और यही मुख्य प्रश्न है । वसिष्ठका अर्थ निवास करनेवाला ऐसा है । निवासके हेतु पृथिवी, जल, अग्नि, वायु ये सब हैं अतः इनको वसिष्ठ नहीं कहा जायगा और ये मन्त्र-द्रष्टा ऋषि भी नहीं हैं । ' मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः ' यह मंत्रद्रष्टा ऋषि है और वह मित्र-वरुणसे हुआ है ।

कई कहते हैं कि उर्वशी अप्सरा थी । अप्सराका संबंध देवोंसे होता था वैसा इस अप्सराका संबंध मित्र और वरुणसे हुआ और उस अप्सरामें अगस्ति और वसिष्ठका संयुक्त जन्म हुआ । अर्थात् ये जुडे भाई हैं । प्रथम अगस्ति जन्मा और पश्चात् वसिष्ठ जन्मा । और कुम्भ और कमलकी कल्पना गर्भा-शयपर की है । यह मत संभवनीय है । पर इसमें भी दो पुरुषोंका संबंध एक स्त्रीसे होनेपर जुडे भाइयोंकी उत्पत्तिकी संभावना है या नहीं यह गर्भशास्त्रके साथ संबंध रखनेवाला प्रश्न है । एक पुरुषके वीर्यसे उसी समय दो बीजाणु गर्भाशयमें जाकर दो संतान एक गर्भसे तो होंगे । पर पृथक् समयमे दो पुरुषोंके संबंधसे जुडे भाइयोंका गर्भ धारण होगा या नहीं यह एक अन्वेषणीय विषय है । एक स्त्रीके साथ एक ही समय दो पुरुषोंका संबंध होना असंभवनीय है । पृथक् समयमें हुआ तो दोनोंके वीर्यसे एक स्थानपर गर्भधारण होगा तो वह एक असाधारणसी बात होगी ।

ऐसी अनेक आपत्तिया यहा होगी । इनका निर्णय अबतक नहीं हुआ । इसलिये वसिष्ठ ऋषिकी उत्पत्तिका वर्णन इस समयतक अनिर्णीतसा है । ऐसा ही समझना उचित है ।

दक्षिणकी ओर शिखा

वसिष्ठ तथा वसिष्ठ गोत्रियोंका वर्णन **" दक्षिणतः कपर्दाः "** दक्षिणकी ओर शिखावाले ऐसा किया है । सीधी बाजूपर इनकी शिखा थी । इस समय हम सिरके मध्यमे परंतु पीठकी ओर शिखा रखते हैं । वसिष्ठ गोत्रके ऋषि सिरमें दक्षिणकी ओर शिखा रखते थे ।

वसिष्ठ सुदास पैजवन राजाका पुरोहित था और वसिष्ठके कारण सुदासकी विशेष उन्नति हुई ऐसा ऐतरेय ब्राह्मणमें लिखा है—

प्रोवाच वसिष्ठः सुदासे पैजवनाय ते ह ते सर्वं एव महज्जग्मुरेतं भक्षं भक्षयित्वा सर्वे है-व महाराजा आसुरादित्य इव ह स्म श्रियां प्रतिष्ठिताः । ऐ० ब्रा० ७।३४

तथा—

एतेन ह वा ऐन्द्रेण महाभिषेकेण वसिष्ठः सुदासं पैजवनमभिषिषेच तस्मादु सुदाः पैजवनः समन्तं सर्वतः पृथिवीं जयन् परीयायाश्वेन च मध्येनेजे । ऐ० ब्रा० ८।२१

' सुदास पैजवन राजाके लिये यह विद्या वसिष्ठने सिखायी, जिससे वह बडा दिग्विजय करनेमें समर्थ हुआ, महाराजा हुआ और सब प्रकारकी संपदाओंसे युक्त हुआ । ' ' वसिष्ठने सुदास पैवजन राजाको इस ऐन्द्र महाभिषेकसे राज्याभिषेक किया । इससे वह राजा सब दिशाओंमें पृथ्वीका विजय करनेमें समर्थ हुआ और उसने अश्वमेध भी किया । ' वसिष्ठ ऋषि जिसके साथ रहता था उसका इसी तरह अभ्युदय होता था । इससे पता चलता है कि वसिष्ठका संघटनाचातुर्य बहुत था । इस सुदास पैजवनका उल्लेख निम्नलिखित मंत्रमें है—

चत्वारो मा पैजवनस्य दानाः..।
सुदासस्तोकं तोकाय श्रवसे वहन्ति ॥ २३॥
दिवोदासं न पितरं सुदासः।
अविष्टना पैजवनस्य केतं... ॥ १५ ॥ ऋ० ७।१८

' पिजवन पुत्र सुदास राजाके दानमें दिये, सुवर्णलंकारोंसे लदे चार घोडे बालबच्चोंको ले चलते हैं। दिवोदासके समान सुदासकी सहायता करो। पिजवन पुत्र सुदासके घरकी सुरक्षा करो।'

इस विषयमें ये मंत्र (संख्या १६८ और १७०) देखो।

वसिष्ठ और विश्वामित्रके झगडेका उल्लेख वेदमंत्रोंमें है ऐसा सायन भाष्य, षड्गुरु भाष्य ऋ० ७।३२, ऋ० ३।५३ आदि स्थानोंमें लिखा है। ऋ० ३।५३।२१-२४ ये चार मंत्र वसिष्ठ के द्वेषका वर्णन करनेवाले हैं, ऐसा कई मानते हैं। बृहद्देवतामें वैसा लिखा है। इस कारण वसिष्ठ गोत्रमें उत्पन्न दुर्गाचार्यने इन मंत्रोंका अर्थ किया नहीं। यह सब ये लोग लिखते हैं, परंतु मंत्रोंका स्पष्ट अर्थ ऐसा दीखता नहीं है, इसलिये इस विषयका विवरण यहां करनेकी कोई जरूरत हमें दीखती नहीं है। जो भाव मंत्रमें स्पष्ट है वही हम विश्वास योग्य मानते हैं।

हरिश्चन्द्रके राजसूय यज्ञमें वसिष्ठ ब्रह्मा था—

तस्य ह विश्वामित्रो होतासीत्, जमदग्नि रध्वर्युर्वसिष्ठो ब्रह्माऽयास्य उद्गाता ।
ऐ० ब्रा० ७।१६

हरिश्चन्द्रके राजसूय यज्ञमे मिश्वामित्र होता, जमदग्नि अध्वर्यु तथा वसिष्ठ ब्रह्मा था और अयास्य उद्गाता था। इस तरह विश्वामित्र और वसिष्ठ एक ही यज्ञमें थे और श्रेष्ठ ब्रह्माका स्थान वसिष्ठ ऋषिको प्राप्त था। अर्थात् विश्वामित्रको भी वसिष्ठकी श्रेष्ठता मान्य थी।

वसिष्ठ कुलके ब्राह्मण प्राथमिक समयमें यज्ञके लिये योग्य समझे जाते थे। देखो षड्विंश ब्राह्मण १।५, पश्चात् सब ब्राह्मण यज्ञके लिये योग्य समझे जाने लगे। इसका अर्थ यह है कि एक ऐसा समय था कि जिस समयमें वसिष्ठ कुलके पास ही यज्ञकी विद्या थी। वह विद्या इनसे अन्य ब्राह्मणोंको प्राप्त हुई। ये ऋषि आपसमें स्पर्धा भी करते थे। देखिये—

विश्वामित्र-जमदग्नी वसिष्ठेनास्पर्धेतां स एतज्जमदग्निर्विहव्यमपश्यत्तेन वै स वसिष्ठ-स्येन्द्रियं वीर्यमवृंक्त। तै० सं० ३।१।७।३

विश्वामित्र और जमदग्नि वसिष्ठके साथ स्पर्धा करने लगे। जमदग्निने यह विहव्य नामक यज्ञ देखा। उससे वह वसिष्ठके सामर्थ्यको प्राप्त हुआ। इसमें स्पर्धा है, पर यह स्पर्धा यज्ञकी खोजकी है। दश सूक्तोंका एक यज्ञ होता है तो दूसरा १५ सूक्तोंका होगा। इस दस सूक्तोंके यज्ञसे वह पंदरह सूक्तोंका यज्ञ अधिक प्रभावी होता है। इनकी स्पर्धा यह थी। वसिष्ठ ऋषिका महत्त्व विशेष था। वैसा महत्त्व हम प्राप्त करेंगे ऐसी स्पर्धा इनमें थी।

वसिष्ठ तथा इनके कुलमें उत्पन्न हुए ऋषियोंका नाम ' तृत्सु ' ऐसा भी आया है। वेद मंत्रमें इस शब्दका प्रयोग है। पर वहां इसका अर्थ ' अपनी उत्कर्षकी इच्छा करनेवाला ' ऐसा है।

दत्तक पुत्रकी निंदा

वसिष्ठके सूक्तमे दत्तक पुत्रकी प्रशंसा नहीं है, प्रत्युत निंदा है—

(५३) **अन्यजातं शेषः नास्ति।** ऋ० ७।४।७
(५४) **अन्योदर्यं मनसा मन्तवै नाहि।** ऋ० ७।४।८

' दूसरेका पुत्र अपना औरस पुत्रकी योग्यता नहीं पा सकता। दूसरेके पुत्रको अपना औरस जैसा मानना कल्पनामें भी नहीं आ सकता। ' यह दत्तक पुत्रकी निंदा ही है। अर्थात् औरस संतान होनी चाहिये यह इसका तात्पर्य है। वसिष्ठ ऋषि औरस पुत्रको श्रेष्ठ मानता है। जहां औरस संतान नहीं है उस घरमें रहना भी नहीं चाहिये। पुत्र-पौत्र विहीन घर रहने योग्य-नहीं है। ऋषि लोग इस विचारके थे। आजन्म ब्रह्मचर्य, आजन्म यति बनकर रहना, यह ऋषियोंकी कल्पनामें भी नहीं था। वसिष्ठ ऋषि पुत्र-पौत्रवान् था और संतानसहित रहना ही उसको संमत था।

महामृत्युंजय मंत्र

ऋ० ७।५९।१२ " **त्र्यंबकं यजामहे** " यह मंत्र महा-मृत्युंजयके नामसे प्रसिद्ध है। यह वसिष्ठ ऋषिका देखा मंत्र है। इसके जपसे अपमृत्यु दूर होता है, छोटी मोटी व्याधियां तथा शारीरिक क्लेश दूर होते हैं। इस विषयमें यह सुप्रसिद्ध मंत्र है। तै० सं० में कहा है—

वसिष्ठो हतपुत्रोऽकामयत विन्देयं प्रजामभि सौदासान् भवेयमिति स एतमेकस्मान्न पञ्चाशमपश्यत्तमाहरत्तेनायजत ततो वै

सोऽविन्दत प्रजामभि सौदासानभवत्।
तै० सं० ७।४।७

" पुत्रोंकी मृत्यु होनेपर वसिष्ठने इच्छा की कि मुझे संतान उत्पन्न हो और मैं शत्रुका नाश करूं। उसने उनपचास यागोंको देखा और उसने इस यज्ञको किया। इससे वह पुत्रवान हुआ और शत्रुओंका भी इसीसे इसने पराभव किया। इसी तरह और कहा है—

ऋषयो वा इन्द्रं प्रत्यक्षं नापश्यन्, तं वसिष्ठः प्रत्यक्षमपश्यत्, सोऽब्रवीद्, ब्राह्मणं ते वक्ष्यामि, यथा त्वत्पुरोहिताः प्रजाः प्रजनयिष्यन्ते, अथ मा इतरेभ्य ऋषिभ्यो मा प्रवोच इति, तस्मा एतान् स्तोमभागानब्रवीत्ततो वसिष्ठ-पुरोहिताः प्रजाः प्राजायन्त, इति। तै० सं० ३।५।२

' सब ऋषिलोग इन्द्रको प्रत्यक्ष देखनेमे असमर्थ रहे। वसिष्ठ ऋषिने अपनी दिव्य दृष्टिसे उसे देखा। उस इन्द्रने उस वसिष्ठ ऋषिसे कहा कि ' मैं तुम्हें मंत्रोंका उपदेश करूंगा, इससे तू ही सब प्रजाओंमे मुख्य पुरोहित हो जायगा। पर तुम ये मंत्र अनधिकारियोंको न बताना। ' ऐसा कहकर उस इन्द्रने वसिष्ठ को उन मंत्रोंका उपदेश किया। इससे सब प्रजाओंमें वसिष्ठ श्रेष्ठ हुआ। इस वसिष्ठका श्रेष्ठत्व सबने मान्य किया था।

विपाश नदीमें वसिष्ठशिला और कृष्णशिला इस नामके दो आश्रम स्थान हैं जहां वसिष्ठने तप किया था ऐसा गोपथ ब्राह्मण १।२।८ में कहा है। इन्द्रकी कृपासे वसिष्ठ सब लोगोंका पुरोहित हुआ ऐसा वहां ही (गो० १।२।१३ में) कहा है।

(२) द्वितीय वसिष्ठ

स्वायंभुव मन्वंतरमें ब्रह्मदेवके दस मानसपुत्रोंमे एक मानसपुत्र वसिष्ठ था। यह ब्रह्मदेवके प्राणसे उत्पन्न हुआ।

प्राणाद्वसिष्ठः संजातः। श्रीभाग० ३।१२।२३

ब्रह्मदेवके प्राणसे वसिष्ठ उत्पन्न हुआ। यह ब्रह्मदेवका मानस-पुत्र है। इसकी दो पत्नियां थी, एक अरुंधती और दूसरी ऊर्जा। कर्दम नामक प्रजापतिकी नौ कन्याओंमें आठवी अरुंधती है। ऊर्जासे वसिष्ठको छः पुत्र हुए--

ऊर्जायां जज्ञिरे पुत्रा वसिष्ठस्य परंतप।
चित्रकेतु प्रधानास्ते सप्त ब्रह्मर्षयोऽमलाः॥४०॥
चित्रकेतुः सुरोचिश्च विरजा मित्र एव च।
उल्बणो वसुभृद्यानो द्युमान् शक्त्यादयोऽपरे॥ ४१॥ श्री० भाग० ४।१

वसिष्ठको ऊर्जामें चित्रकेतु, सुरोचि, विरजा, मित्र, उल्बण, वसुभृत् ये पुत्र हुए। शक्ति आदि इसीके अन्य पुत्र हैं। इसके अतिरिक्त हवीन्द्र, सुकाल आदि अनेक पुत्र अन्यान्य पत्नियोंमे वसिष्ठको हुए थे।

ब्रह्माण्ड पुराण २।१२।३९-४३ में लिखा है कि ब्रह्माके समान प्राणसे वसिष्ठकी उत्पत्ति हुई है। यह दक्षका दामाद और शंकरका श्यालक है। दक्षकन्या ऊर्जामें इसको आठ पुत्र हुए। हरिवंशमें १।२ में भी कथा है, जिसमें वसिष्ठको वीर नामक पुत्र उत्पन्न होनेका वर्णन और उससे अनेक संतानें हुईं, ऐसा भी वर्णन है।

(३) तृतीय वसिष्ठ

महादेवके शापसे ब्रह्मदेवके मानसपुत्र दग्ध हुए थे। वे फिरसे ब्रह्मदेवने इस मन्वंतरमें उत्पन्न किये। उस समय अग्निके मध्यसे यह वसिष्ठ उत्पन्न हुआ। यहां इसका विवाह अक्षमा-लाके साथ हुआ। इस अक्षमालाके विषयमें मनुस्मृतिमें ऐसा लिखा है।

अक्षमाला वसिष्ठेन संयुक्ताऽधमयोनिजा।
शारंगी मन्दपालेन जगामाभ्यर्हणीयताम्॥
मनु० ९।२३

" अक्षमाला वसिष्ठके साथ विवाहित होनेसे तथा शारंगी मन्दपालसे विवाहित होनेसे अधमयोनीमें उत्पन्न होनेपर भी जगत्की वन्दनीय बनी। " अर्थात् अक्षमाला नीच जातीमें उत्पन्न हुई थी, पर वह भी वसिष्ठकी पत्नी बनी और पवित्र हुई। जगत् उसको वन्दन करने लगा। कई लोग मानते हैं कि अक्षमाला और अरुंधति प्रथक् स्त्रियां हैं, परंतु कइयोंकी संमति यह है कि ये दो नाम एकही स्त्रीके हैं।

(४) चतुर्थ वसिष्ठ

निमिने शाप दिया। इसके अनंतर वसिष्ठ वायुरूपसे ब्रह्म-देवके पास गया। वहां ब्रह्मदेवकी इच्छानुसार मित्रावरुणोंके

वीर्यसे कुम्भमें उत्पन्न हुआ। यह कथा वा० रामा० में है तथा मत्स्यपुराणमें भी है। देखिये–

यस्तु कुम्भो रघुश्रेष्ठ तेजः पूर्णो महात्मनोः।
तस्मिंस्तेजोमयौ विप्रौ संभूतावृषिसत्तमौ ४
पूर्वं समभवत्तत्र ह्यगस्त्यो भगवानृषिः।
नाहं सुतस्तवेत्युक्त्वा मित्रं तस्मादपाक्रमत् ५
तद्धि तेजस्तु मित्रस्य उर्वश्याः पूर्वमाहितम्।
तस्मिन्समभवत्कुम्भे तत्तेजो यत्र वारुणम् ६
कस्यचित्त्वथ कालस्य मित्रावरुणसंभवः।
वसिष्ठस्तेजसा युक्तो जज्ञे चेक्ष्वाकुदैवतम् ७
तमिक्ष्वाकुर्महातेजा जातमात्रमनिन्दितम्।
वव्रे पुरोहितं सौम्य वंशस्यास्य भवाय नः ८
एवं त्वपूर्वदेहस्य वसिष्ठस्य महात्मनः।
कथितो निर्गमः सौम्य ··· ··· ··· ९

वा. रा. उ. का. ५७

'उस कुम्भमें तेजस्वी दो ब्राह्मण उत्पन्न हुए। प्रथम अगस्ति ऋषि उत्पन्न हुआ। जहां मित्र और वरुणका तेज था वहांसे वसिष्ठ ऋषि उत्पन्न हुआ। उत्पन्न होते ही राजा इक्ष्वाकुने इस वसिष्ठको अपना पुरोहित बनाया, जिससे हमारे वंशका यश बढ गया। वसिष्ठकी अपूर्व उत्पत्तिका वृत्तान्त यह है।' यह वृत्तांत यहां श्री रामचंद्रने भाई लक्ष्मणको कहा था।

वसिष्ठके विषयमें इतनी सामग्री मिलती है। इससे कुछ और अधिक सामग्री है पर वह वसिष्ठ-विश्वामित्रके झगडेकी है, वह मंत्रों द्वारा सिद्ध नहीं होती इसलिये यहां नहीं दी है। इस विषयके सायण भाष्यके वाक्य हम आगे देंगे। तथा जिन मंत्रोंमें वासिष्ठ नाम है वे मंत्र भी देंगे। इनका विचार पाठक स्वयं भी कर सकते हैं।

वसिष्ठके ग्रन्थ

वसिष्ठ स्मृति एक प्रसिद्ध स्मृति है। वसिष्ठ धर्मसूत्र भी है। मिताक्षरामें वसिष्ठ धर्मशास्त्रके वचन उद्धृत किये हैं। वासिष्ठके ग्रंथमें वेदवचन बहुत आते हैं। वास्तुशास्त्रपर भी वसिष्ठका एक ग्रंथ है। वसिष्ठ ऋषिके गोत्रप्रवरकार अनेक हैं जो मत्स्यपुराणमें अ० २०० में दिये हैं।

वसिष्ठ कुलके मंत्रद्रष्टा ऋषि

वसिष्ठ कुलमें मंत्रद्रष्टा ऋषि हुए जिनके नाम ये हैं— **इन्द्रप्रमति, कुंडिन, पराशर, बृहस्पति, भरद्वसु, भरद्वाज, मैत्रावरुण, वसिष्ठ, शक्ति, सुद्युम्न** इनका वर्णन वायुपुराण १।५९।१०५-१०६ में, मत्स्यपुराण १४५। १०९-११०; ब्रह्माण्डपुराण २।३२।११५-११६ में है। प्रत्येक पुराणमें यह संख्या न्यून वा अधिक है।

वसिष्ठका उल्लेख करनेवाले मंत्र

अब हम वेदमंत्रोंमें जहां जहां वसिष्ठ नाम आया है वे मंत्र देते हैं–

कुत्स आंगिरस ऋषिके मंत्रोंमें। देवता-अश्विनौ

'वसिष्ठं' याभिरजरावजिन्वतम्। ऋ. १।११२।९

गृत्समद ऋषिके मंत्रोंमें। देवता-अग्निः।

नि होता होतृषदने विदानस्त्वेषो दीदिवाँ असदत् सुदक्षः। अदब्धव्रतप्रमति 'र्वसिष्ठः' सहस्रंभरः शुचिजिह्वो अग्निः॥

ऋ० २।९।१; वा० य० ११।३६

वसिष्ठ ऋषिके मंत्रोंमें। देवता-**अग्निः**

आ यस्ते अग्न इधते अनीकं 'वसिष्ठ' शुक्र दीदिवः पावक। उतो न एभिः स्तवथैरिह स्याः॥

ऋ० ७।१।८

नू त्वामग्न ईमहे 'वसिष्ठा' ईशानं सूनो सहसो वसूनाम्। इषं स्तोतृभ्यो मघवद्भ्य आनड् यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥ ऋ० ७।७।७

त्वामग्ने समिधानो 'वसिष्ठो' जरूथं हन् यक्षि राये पुरंधिम्। पुरुणीथा जातवेदो जरस्व यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः। ऋ० ७।९।६

त्वं वरुण उत मित्रो अग्ने त्वां वर्धन्ति मतिभि-'र्वसिष्ठाः'। त्वे वसु सुषणनानि सन्तु यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥ ऋ० ७।१२।३

देवता **इन्द्रः**

धेनुं न त्वा सूयवसे दुदुक्षन्नुप ब्रह्माणि ससृजे 'वसिष्ठः'। त्वामिन्मे गोपतिं विश्व आहा ऽऽ न इन्द्रः सुमतिं गन्त्वच्छ॥ ४॥

प्र ये गृहादममदुस्त्वाया पराशरः शतयातु- 'र्वसिष्ठः'। न ते भोजस्य सख्यं मृषन्ताऽधा सूरिभ्यः सुदिना व्युच्छान् ॥ २१ ॥ ऋ० ७।१८

बोधा सु मे मघवन् वाचमेमां यां ते 'वसिष्ठो' अर्चति प्रशस्तिम्। इमा ब्रह्म सधमादे जुषस्व ॥ ऋ० ७।२२।३; अथर्व २०।११७।३

उत ब्रह्मण्यैरयत श्रवस्येन्द्रं समर्ये महया 'वसिष्ठ'। आ यो विश्वानि शवसा ततानो- पश्रोता म ईवतो वचांसि ॥ १ ॥ साम० ३।१३।३

एवेदिन्द्र वृषणं वज्रबाहुं वसिष्ठासो अभ्य- र्चन्त्यर्कैः। स नः स्तुतो वीरवद्धातु गोमद् यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ६ ॥

ऋ० ७।२३, वा० य० २०।५४ अथर्व २०।१२।१

एवा ' वसिष्ठ ' इन्द्रमूतये नृन् कृष्टीनां वृषभं सुते गृणाति । सहस्रिण उप नो माहि वाजान् यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः।

ऋ० ७।२६।५

देवता— इन्द्रो वसिष्ठो वा

श्वित्यञ्चो मा दक्षिणतस्कपर्दा धियंजिन्वासो अभि हि प्रमन्दुः। उत्तिष्ठन् वोचे परि बर्हि- षो नृन् न मे दूरादवितवे 'वसिष्ठाः' ॥ १ ॥

दूरादिन्द्रमनयन्ना सुतेन तिरो वैशन्तमति पान्तमुग्रम्। पाशद्युम्नस्य वायतस्य सोमा- त्सुतादिन्द्रोऽवृणीता 'वसिष्ठान्' ॥ २ ॥

एवेन्नु कं सिन्धुमेभिस्ततारेवेन्नु कं भेदमे- भिर्जघान । एवेन्नु कं दाशराज्ञे सुदासं प्रावदिन्द्रो ब्रह्मणा वो ' वसिष्ठाः ' ॥ ३ ॥

जुष्टी नरो ब्रह्मणा वः पितॄणामक्षमव्ययं न किला रिषाथ । यच्छक्वरीषु बृहता रवेणेन्द्रे शुष्ममदधाता ' वसिष्ठाः ' ॥ ४ ॥

उद्द्यामिवेत् तृष्णजो नाथितासोऽदीधयुर्दा- शराज्ञे वृतासः । ' वसिष्ठस्य ' स्तुवत इन्द्रो अश्रोदुरुं तृत्सुभ्यो अकृणोदु लोकम् ॥ ५ ॥

दण्डा इवेद्गोअजनास आसन् परिच्छिन्ना भरता अर्भकासः । अभवच्च पुरएता 'वसिष्ठ' आदित्तृत्सूनां विशो अप्रथन्त ॥ ६ ॥

त्रयः कृण्वन्ति भुवनेषु रेतास्तिस्रः प्रजा आर्या ज्योतिरग्राः । त्रयो घर्मास उषसं सचन्ते सर्वाँ इत्ताँ अनु विदु ' र्वसिष्ठाः ' ॥ ७ ॥

सूर्यस्येव वक्षथो ज्योतिरेषां समुद्रस्येव महिमा गभीरः । वातस्येव प्रजवो नान्येन स्तोमो ' वसिष्ठा ' अन्वेतवे वः ॥ ८ ॥

त इन्निण्यं हृदयस्य प्रकेतैः सहस्रवल्शमभि सं चरन्ति । यमेन ततं परिधिं वयन्तोऽप्सरस उप सेदु ' र्वसिष्ठाः ' ॥ ९ ॥

विद्युतो ज्योतिः परि संजिहानं मित्रावरुणा यदपश्यतां त्वा । तत्ते जन्मोतैकं ' वसिष्ठा- गस्त्यो' यत्त्वा विश आजभार ॥ १० ॥

उतासि मैत्रावरुणो 'वसिष्ठो'र्वश्या ब्रह्मन्मन- सोऽधि जातः । द्रप्सं स्कन्नं ब्रह्मणा दैव्येन विश्वेदेवाः पुष्करे त्वाददंत ॥ ११ ॥

स प्रकेत उभयस्य प्र विद्वान् त्सहस्रदान उत वा सदानः । यमेन ततं परिधिं वयिष्यन्नप्सरस परि जज्ञे 'वसिष्ठः' ॥ १२ ॥

सत्रे ह जाताविषिता नमोभिः कुम्भे रेतः सिषिचतुः समानम् । ततो ह मान उदियाय मध्यात् ततो जातमृषिमाहु 'र्वसिष्ठम्' ॥ १३ ॥

उक्थभृतं सामभृतं बिभर्ति ग्रावाणं बिभ्रत्प्र- वदात्यग्रे । उपैनमाध्वं सुमनस्यमाना आ वो गच्छाति प्रतृदो 'वसिष्ठः' ॥ १४ ॥ ऋ० ७।३३

देवता—विश्वेदेवाः

त्वामिन्द्र स्वयशा ऋभुक्षा वाजो न साधु- रस्तमेष्यृक्वा । वयं नु ते दाश्वांसः स्याम ब्रह्म कृण्वन्तो हरिवो 'वसिष्ठाः' ॥४॥ ऋ० ७।३७

नू रोदसी अभिष्टुते 'वसिष्ठै' ऋतावानो वरुणो मित्रो अग्निः । यच्छन्तु चन्द्रा उपमं नो अर्कं यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ७ ॥ ऋ. ७।३९

एवाग्निं सहस्यं १ 'वसिष्ठो' रायस्कामो विश्व- प्स्न्यस्य स्तौत् । इषं रयिं पप्रथद् वाजमस्मे यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ६ ॥ ऋ० ७।४२

देवता-मरुतः

न हि वश्चरमं चन ' वसिष्ठः ' परिमंसते ।

अस्माकमद्य मरुतः सुते सचा विश्वे पिबत
कामिनः ॥ ३ ॥ ऋ. ७।५९ साम ३।५।०

देवता– अश्विनौ

यो वां यज्ञो नासत्या हविष्मान् कृतब्रह्मा
समर्यो भवाति। उप प्रयातं वरमा ' वासिष्ठ '
मिमा ब्रह्माण्यृच्यन्ते युवभ्याम् ॥६॥ ऋ० ७।७०

अहेम यज्ञं पथामुराणा इमां सुवृक्तिं वृषणा
जुषेथाम्। श्रुष्टिविव प्रेषितो वामबोधि प्रति-
स्तोमैर्जरमाणो ' वसिष्ठः ' ॥ ३ ॥ ऋ० ७।७३

देवता– उषसः

प्रति त्वा स्तोमैरीळते 'वसिष्ठा' उषर्बुधः
सुभगे तुष्टुवांसः। गवां नेत्री वाजपत्नी न
उच्छोषः सुजाते प्रथमा जरस्व ॥ ६ ॥

एषा नेत्री राधसः सूनृतानामुषा उच्छन्ती
रिभ्यते 'वसिष्ठै.'। दीर्घश्रुतं रयिमस्मे दधाना
यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ७ ॥ ऋ० ७।७६

यां त्वां दिवो दुहितर्वर्धयन्त्युषः सुजाते मति-
भिर्वसिष्ठाः। सास्मासु धा रयिमृष्वं बृहन्तं
यूयं पात स्वस्तिभिः सदा न ॥ ६ ॥ ऋ० ७।७७

प्रति स्तोमेभिरुषसं 'वसिष्ठा' गीर्भिर्विप्रास
प्रथमा अबुध्रन्। विवर्तयन्तीं रजसी
समन्ते आविष्कृण्वती भुवनानि विश्वा ॥ १ ॥
ऋ० ७।८०

देवता- वरुणः

अव द्रुग्धानि पित्र्या सृजानोऽव या वय चकृमा
तनूभिः। अव राजन्पशुतृपं न तायुं सृजा
वत्सं न दाम्नो 'वसिष्ठम्' ॥ ५ ॥ ऋ० ७।८६

'वसिष्ठं' ह वरुणो नाव्याधादृषिं चकार स्वपा
महोभिः। स्तोतारं विप्र. सुदिनत्वे अह्नां
यान्नु द्यावस्ततनन् यादुषासः ॥ ४ ॥ ऋ. ७।८८

प्र शुंध्युवं वरुणाय प्रेष्ठां मतिं 'वसिष्ठ' मीळ्हुषे
भरस्व। य ईमर्वाञ्चं करते यजत्रं सहस्रा-
मघं वृषणं बृहन्तम् ॥ १ ॥ ऋ० ७।८८

❀

देवता– इन्द्रवायू

अवन्तो न श्रवसो भिक्षमाणा इन्द्रवायू सुष्टुति-
भि 'र्वसिष्ठाः'। वाजयन्तः स्ववसे हुवेम
यूयं पात स्वस्तिभि सदा नः ॥ ७ ॥ ऋ ७।९०

देवता- सरस्वती

अयमु ते सरस्वति 'वसिष्ठो' द्वारावृतस्य सुभगे
व्यावः। वर्ध शुभ्रे स्तुवते रासि वाजान् यूयं
पात स्वस्तिभि सदा न ॥ ६ ॥ ऋ० ७।९५

बृहदु गायिषे वचोऽसुर्या नदीनाम्।
सरस्वतीमिन्महया सुवृक्तिभिः स्तोमैर्वसिष्ठ
रोदसी ॥ १ ॥ भद्रमिद्भद्रा कृणवत्सरस्व-
त्यकवारी चेतति वाजिनीवती। गृणाना
जमदग्निवत्स्तुवाना च वसिष्ठवत् ॥३॥ ऋ० ७।९६

देवता -पितरः

ये न. पूर्वे पितरः सोम्यासोऽनूहिरे सोमपीथं
'वसिष्ठाः'। तेभिर्यमः संरराणो हवींष्युशन्नु-
शद्भिः प्रतिकाममत्तु ॥ ८ ॥
ऋ० १०।१५, अथर्व० १८।३।४

देवता–विश्वेदेवा·

देवान् ' वसिष्ठो ' अमृतान्ववन्दे ये विश्वा
भुवनानि प्रतस्थुः। ते नो रासन्तामुरुगाय-
मद्य यूय पात स्वस्तिभिः सदा न· ॥ १५ ॥
ऋ० १०।६५, १०।६६।१५

' वसिष्ठासः ' पितृवद्वाचमक्रत देवाँ ईळाना
ऋषिवत्स्वस्तय। प्रीता इव ज्ञातय· काममे-
त्याऽस्मे देवासोऽव धूनुता वसु ॥१४॥ ऋ० १०।६

देवता–उर्वशी

अन्तरिक्षप्रां रजसो विमानीमुप शिक्षाम्यु-
र्वशीं वसिष्ठ। उप त्वा रातिः सुकृतस्य तिष्ठान्नि
वर्तस्व हृदयं तप्यते मे ॥ ७ ॥ ऋ १०।९५

देवता - अग्नि·

नि त्वा ' वसिष्ठा ' अह्वन्त वाजिनं गृणन्तो
अग्ने विदथेषु वेधसः। रायस्पोषं यजमानेषु
धारय यूयं पात स्वस्तिभिः सदा न ॥ ८ ॥
ऋ० १०।१२

अग्निरत्रिं भरद्वाजं गविष्ठिरं प्रावन्नः कण्वं त्रसदस्युमाहवे । अग्निं ' वसिष्ठो ' हवते पुरोहितो मृळीकाय पुरोहित ॥ ५ ॥
ऋ. १०।१५०

देवता—विश्वेदेवाः ।

प्रथश्च यस्य सप्रथश्च नामाऽऽनुष्टुभस्य हविषो हविर्यत् । धातुर्द्युतानात्सवितुश्च विष्णो रथन्तरमा जभारा 'वसिष्ठः'॥ १ ॥ ऋ० १०।१८१

यजुर्वेदमें ' वसिष्ठ ' पदवाले मंत्र

त्रिवृतो रथन्तरं, ' वसिष्ठ ' ऋषिः ।
वा. य. १३।५४; काण्व १४।५७

वसिष्ठहनुः । वा. य. ३९।८, काण्व य. ३९'६।१

अथर्ववेदमें वसिष्ठ पदवाले मंत्र

ऋषिः-मृगारः । देवता—**मित्रावरुणौ**

यावाङ्गिरसमवथो यावगस्तिं मित्रावरुणा जमदग्निमत्रिम् । यौ कश्यपमवथो यौ 'वसिष्ठं' तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ अथर्व ४।२९।३

ऋषिः— शन्तातिः । देवता-चंद्रमाः ।

श्रेष्ठमसि भेषजानां ' वसिष्ठं ' वीरुधानाम् । सोमो भग इव यामेषु देवेषु वरुणो यथा ॥
अथर्व ६।२१।२

ऋषि विश्वामित्रः । देवता-**वनस्पतिः ।**

शतं या भेषजानि ते सहस्रं संगतानि च । श्रेष्ठमास्रावभेषजं ' वसिष्ठं ' रोगनाशनम् ॥
अथर्व ६।४४।२

ऋषिः—कौशिकः । देवता-**वैश्वानरोऽग्निः ।**

यदर्दीव्यन्नृणमहं कृणोम्यदास्यन्नग्न उत संगृणामि । वैश्वानरो नो अधिपा ' वसिष्ठ ' उदिन्नयाति सुकृतस्य लोकम् ॥ १ ॥ अथर्व ६।११९

ऋषिः ब्रह्मा । देवता—**आयुः बृहस्पतिः अश्विनौ च ।**

सं क्रामतं मा जहीतं शरीरं प्राणापानौ ते सयुजाविह स्ताम् । शतं जीव शरदो वर्धमानोऽग्निष्टे गोपा अधिपा 'वसिष्ठः' ॥ १ ॥ अथर्व ७।५५

ऋषिः अथर्वा । देवता--यमः

विश्वामित्र जमदग्ने ' वसिष्ठ ' भरद्वाज गोतम वामदेव । शर्दिर्नो अत्रिरग्रभीन्नमोभिः सुसंशासः पितरो मृडता नः ॥ १६ ॥ अथर्व १८।३

सायनभाष्यमें वसिष्ठ

' वसिष्ठ ' के विषयके मंत्र ऊपर दिये हैं, इनपरके सायनभाष्यमें वसिष्ठके विषयमें जो लिखा है, उसमेंसे आवश्यक भाग यहां हम पाठकोंके विचारार्थ देते हैं। इससे वसिष्ठके विषयमें क्या क्या पूर्वाचार्योंने लिखा है, सो पाठकोंके सामने आ जायगा। देखिये—

(ऋ. २।९।१) **वसिष्ठः सर्वस्य वासयितृतमः ।**

(ऋ. ७।१८।२१) **पराशरः शतयातुः वसिष्ठः ।** **बहूनि रक्षांसि बाधितुं यं कामयन्ते शतयातुः बहूनां रक्षसां शातयिता । शक्तिर्वसिष्ठश्चैवमादयो ये ऋषयः ।**

(ऋ. ७।३३।३) **भेदं भेदनामकं शत्रुं अपि एभिर्वसिष्ठैः एव जघान ।**

(७।३३।१०) **एतासु ऋक्षु वसिष्ठस्य एव देह परिग्रहः प्रतिपाद्यते । एताश्च इन्द्रस्य वाक्यमित्येके वर्णयन्ति, अपरे वसिष्ठपुत्राणामिति । हे वसिष्ठ ! यद्यदा विद्युतो विद्युत इव स्वीयं ज्योतिः देहान्तरपरिग्रहार्थं परिसंजिहानं परित्यजन्तं त्वा त्वां जिघृक्षितं देहार्थं स्वीयं ज्योतिः परिसंजिहानं परित्यजन्तं परिजिघृक्षन्तं मित्रावरुणौ अपश्यताम् । आवाभ्यां अयं जायेत इति समकल्पताम् । तत् तदा ते तव एकं जन्म । उत अपि च यत् यदा अगस्त्यो विशः निवेशनात् मित्रावरुणौ आवां जनयिष्याव इत्येतस्मात् पूर्वावस्थानात् त्वां आजभार आजहार ।**

(७।३३।११) **हे वसिष्ठ ! मित्रावरुणयोः पुत्रोऽसि । हे ब्रह्मन् वसिष्ठ ! उर्वश्या अप्सरसो मनसो ' मम अयं पुत्रः स्यादिति ' ईदृशात् संकल्पात् द्रप्सं रेतः मित्रावरुणयोः उर्वशी दर्शनात् स्कन्नं आसीत् । तस्मात् अधिजातः असि । एवं जातं त्वां दैव्येन ब्रह्मणा वेदराशिनाहं भुवा युक्तं पुष्करे विश्वे देवा अदधन्त अधारयन्त ।**

वसिष्ठाः वसिष्ठगोत्रा ऋषयः ।

(७।८८।४) **वसिष्ठं खलु वरुणो नावि स्वकीयायां आधात् आरोहयत्। तदा तं ऋषिं अवोभिः रक्षणैः स्वपां स्वपसं शोभनकर्माणं चकार।**

अथर्व-सायणभाष्ये

(अथर्व ६।२१।२) **हे हरिद्रादिरूप भेषज ! अन्येषां भेषजानां श्रेष्ठं प्रशस्यतमं असि अमोघवीर्यत्वात्। तथा वीरुधानां अन्यासां वीरुधां वसिष्ठं वसुमत्तमं मुख्यं असि।**

[यहां वसिष्ठका अर्थ ' श्रेष्ठ, विशेष वीर्यवान् ' है। यह औषधिका विशेषण है। ऋषिका नाम नहीं है।]

(अथर्व. ६।४४।२) **सहस्रसंख्याकानि औषधानि सन्ति तेषां मध्ये श्रेष्ठं प्रशस्ततमं आस्नावभेषजं रक्तस्रावस्य निवर्तकं पतत् क्रियमाणं कर्म अत एव वसिष्ठं वासयितृतमं रोगनाशनम्।**

[यहां भी वसिष्ठ पदका अर्थ रोगनाश करके अच्छी तरह निवास करनेवाला ऐसा है। वसिष्ठ ऋषिके साथ इसका संबंध नहीं है।]

(अथर्व ६।११९।१) **अधिपाः अधिकं पालयिता वसिष्ठ वासयितृतमः एवं भूतो अग्निः।**

[यहां वसिष्ठका अर्थ निवास करानेवाला ऐसा अर्थ है। वसिष्ठ ऋषिका यहां संबंध नहीं है।]

(अथर्व ७।५५।२) **अग्निः...वसिष्ठः वासयितृतमः वसुमत्तमो वा भवतु।**

[यहां अग्निका विशेषण वसिष्ठ है जिसका अर्थ निवास करानेवाला ऐसा है। यह वसिष्ठ ऋषिका वाचक नहीं है।]

अथर्ववेदके मंत्रोंमें जो तो ऋग्वेदके मंत्र हैं उनमें वसिष्ठ ऋषिका नाम आया है ऐसा प्रतीत होता है, परंतु अन्य मंत्रोंमें वसिष्ठ ऋषिका कोई संबंध नहीं है। यहां ये मन्त्र इसलिये दिये हैं कि वेदमें ' वसिष्ठ ' पद ऋषि वाचक न होता हुआ, केवल यौगिक अर्थ " निवास करनेवाला " ऐसा अर्थ बतानेवाला है यह स्पष्ट सिद्ध हो जाय। अथर्ववेदमें वसिष्ठ यह औषधका तथा अग्निका विशेषण है। ऋग्वेदमें भी कई स्थानपर वसिष्ठ पद विशेषणके रूपमें आया है। अन्य स्थानोंमें जो कथा रची गयी है वैसा भाव बतानेवाले मंत्र हैं। पर वह कथा रूपकालंकारिक है, इतिहास की प्रतीत नहीं होती। यह इससे पूर्व बताया है।

पूर्वस्थानमें ३।४ वसिष्ठ ऋषियोंका हमने वृत्त दिया है। इनमें कौनसा ऋषि ऋग्वेदके सप्तम मंडलका द्रष्टा है यह निश्चय करना कठिन है। इसकी अधिक खोज होनी चाहिये। पर जो पहिला वसिष्ठ ऋषि हमने दिया है वही ऋग्वेदके सप्तम मण्डलका द्रष्टा है ऐसी हमारी संमति है। आगे वसिष्ठके संबंधमें कुछ और वर्णन हम मंत्रोंके आधारसे जो प्रतीत होता है वह देते हैं-

वसिष्ठका थोडासा और वर्णन

वसिष्ठका गौर वर्ण था ऐसा (मन्त्र २९३ में) ' **श्वित्यंचः** ' (श्वित्यं अञ्चति) श्वेत वर्ण होनेका सूचक है। पर इसका अर्थ श्वेत वस्त्र परिधान करनेवाला, ऐसा भी कईयोंके मतसे है।

दक्षिणकी ओर शिखा वासिष्ठगोत्री धारण करते थे ऐसा ' **दक्षिणतः कपर्दाः** ' इन पदोंसे दीखता है (मं० २९३)। पर इससे यह नहीं सिद्ध होता कि वासिष्ठगोत्री सिरके दक्षिणकी ओर ही शिखा रखते थे। क्योंकि उस समय शिखाएं बडी हुआ करती थी, जैसे आजकल शिख, हिंदू, वैरागी आदिकी होती है। इस शिखाकी ग्रंथी, या गट्टू पीछे, आगे, दायीं और बाईं ओर अथवा ठीक सिरके मध्यमें बांधी जाती है। वासिष्ठ गोत्री दक्षिणकी ओर बांधते थे इतना ही इससे सिद्ध हो सकता है। आजकल कई लोग सिरमें बडी या छोटी शिखा रखते है और सिरका अन्य भाग नापितसे क्षुरसे मुंडवाते हैं। ऐसी शिखा वासिष्ठगोत्री दक्षिणकी ओर धारण करते थे, ऐसा इन पदोंका भाव समझनेके लिये कोई प्रमाण नहीं है। दाढी मुंडवाना और सिर मुंडवानेका उल्लेख नहीं है, इससे अनुमान होता है कि ये ऋषि सिरके सब बाल रखते थे। सब बालोंकी मिलकर जो ग्रंथी, जैसी सिख अपने सिरपर बांध देते हैं, वैसी ग्रन्थी, वासिष्ठ गोत्री सिरकी दक्षिणकी ओर बांधते थे। इतना इसका तात्पर्य दीखता है।

(**२९३**) **धियं जिन्वानः**- वसिष्ठ लोग बडे विद्वान्, बुद्धिमान, मेधावान् वा प्रज्ञावान् थे। इसलिये इनका संमान सब लोग करते थे। विद्याके लिये इनकी प्रसिद्धि थी।

(२९४) वासिष्ठगोत्री सोमरस तैयार करनेमें अत्यंत प्रवीण थे। इस मंत्रमें ऐसा कहा है कि ' इन्द्र अन्य लोगोंके सोमरसका त्याग करके वसिष्ठोंका सोम लेनेके लिये इनके पास आता था। ' इतनी सोमरस तैयार करनेमें इनकी प्रसिद्धी थी। इसलिये इन्द्र इनका मंत्रगान मन लगाकर सुनता था। देखिये-

(२९७।२) **स्तुवतः वसिष्ठस्य इन्द्रः अशृणोत्**-- स्तुति करनेवाले वसिष्ठ ऋषिकी स्तुति या स्तोत्र इन्द्र मन लगाकर सुनता था।

वसिष्ठका महिमा

वसिष्ठका महिमा उस समय सब ऋषियोंमें अधिक था। मं० (३०० में) **सूर्यस्य ज्योतिः इव, समुद्रस्य इव गंभीरः, वातस्य प्रजवः इव, अन्येन अन्वेतवे न**-सूर्यकी ज्योतिके समान तेजस्वी, समुद्रके समान गम्भीर, वायुके समान वेगवान् वसिष्ठका महिमा है, वह किसी अन्यके द्वारा तुलना करनेयोग्य नहीं है। सब अन्योंसे इसकी विशेषता अत्यंत अधिक है। वसिष्ठके साथ तुलना हो सके ऐसा उस समय कोई दूसरा नहीं था।

३०१ ते वसिष्ठाः निण्यं सहस्रवल्शं हृदयस्य प्रकेतैः अभिसंचरन्ति-- वे सब वसिष्ठ सहस्रशाखावाले विश्वमें अपने हृदयके गूढ ज्ञानविज्ञानसे संचार करते हैं। अपने हृदयके गुह्यज्ञानसे वसिष्ठोंका प्रभाव विश्वभर फैला है। ' **सहस्रवल्शं** ' का अर्थ ' सहस्र वर्ष ' ऐसा भी है, और हजारों शाखाओंसे युक्त ऐसा भी है। पर वर्षका भाव यहा नहीं है। कईयोंके मतसे यहाका वसिष्ठ पद सूर्य तथा सूर्य किरणका वाचक है।

यमेन ततं परिधिं वयन्तः । (३०१।२)
यमेन ततं परिधिं वयिष्यन् । (३०४)

' यमने मनुष्यकी आयुकी मर्यादा की है, उस आयुरूपी वस्त्रको ये वसिष्ठ बुनते हैं। ' यहा नि संदेह वसिष्ठ ऋषिका निर्देश नहीं है, क्योंकि नियामक प्रभुके आधीन रहकर मानवोंकी आयुष्यमर्यादा का नियमन करनेवाली प्राणशक्तियों-का वाचक यह पद यहा है। इस मंत्रमें वसिष्ठ पद है, पर वह प्राणका वाचक है।

६३२।१ **उषर्बुधः तुष्टुवांसः वासिष्ठाः स्तोमैः ईळते**— उषःकालमें ही उठकर स्तोत्रगान करनेवाले वासिष्ठ स्तोत्रोंसे प्रभुकी स्तुति करते हैं। वसिष्ठ प्रातःकाल उठते थे, स्तोत्र गाते थे, स्तुति-प्रार्थना-उपासना करते थे। अपनी उपासनाके नियममें वे प्रमाद होने नहीं देते थे। इसलिये—

६५० **प्रथमाः विप्राः वसिष्ठाः**— वासिष्ठगोत्री ब्राह्मण प्रथम स्थानमें सन्मानसे पूजित होने योग्य है। इस कारण कहा है कि—

३०६ **प्रतृद ! वः वसिष्ठः आगच्छाति, सुमनस्यमानाः एनं आध्वं**— हे भरतो ! आपके पास वसिष्ठ पुरोहित आ रहा है, प्रसन्नचित्तसे उसका सत्कार करो।

इस तरह वसिष्ठके विषयमें मंत्रोंमें अनेक निर्देश हैं। ये सब मनन पूर्वक खोज करनेका विषय है। ये वर्णन देखकर एकदम किसी निर्णय पर पहुंचना योग्य नहीं है। क्योंकि बडे बडे भाष्यकारोंमें शब्दोंके अर्थोंके विषयमें मतभेद हैं। हमने यहां सबके विचारार्थ ये वचन एकत्रित करके रखे हैं। इनका अनेक विद्वान शान्तिपूर्वक मनन करें और मननके पश्चात् निश्चय तक पहुंचे।

हम यहां स्पष्ट शब्दोंमें कहते हैं कि इन वेद मंत्रोंके आधार पर जो वसिष्ठकी कथा रची है, वह वैसी ही बनी थी ऐसा हमें प्रतीत नहीं होता है। स्थान स्थानपर हमने अपना मतभेद लिखा है। यह कथा आलंकारिक है, पर जो अलंकार है वह इस समय तक गुप्त ही रहा है। अनेक विद्वानोंके प्रयत्न करनेपर भी उस अलंकारका स्पष्ट स्वरूप हमारे मनके सामने प्रकट नहीं हुआ।

वसिष्ठने ऋग्वेदके सप्तम मंडलके सूक्त साक्षात् किये थे इसमें संदेह नहीं है। उन मंत्रोंमें जो तत्त्वज्ञान प्रकट हुआ है उसका स्वरूप अब हम देखते हैं।

वसिष्ठ ऋषिका तत्त्वविज्ञान

अब वसिष्ठ ऋषिके तत्त्वज्ञानका विचार करना है। इसका विचार करनेके समय '**ऋत और सत्य**' का विचार प्रथम आता है। इस विषयमें निम्न लिखित वचन देखने योग्य हैं।

११४ ऋतं नक्षन्।

'ऋतका फैलाव करो,' ऐसा करो कि लोगोंके व्यवहारमें ऋत आ जावे। यह इन्द्रके वर्णनमें वचन है। इन्द्र ऋतको बढाता है, वैसा मनुष्य करे। वैसा राजा अपने राष्ट्रमें ऋतको बढावे। ऋतका अर्थ 'सत्य, सरलता, सीधापन और कुटिलता रहित व्यवहार' है। मनुष्य सरल व्यवहार करें, उसमें छल, कपट, तेढापन, कुटिलता' न हो। ऐसा मानवोंका व्यवहार हुआ तो इस पृथ्वीपर स्वर्गधाम आ जायगा। ऋत और सत्य ये दो अटल तथा स्थायी नियम हैं। सब विश्व इनपर चल रहा है। अतः ये नियम मानवोंके व्यवहारमें आने चाहिये। ऋतका भाव 'गति, प्रगति' है। 'ऋ गतौ' यह धातु इस पदमें है। गतिमान्, प्रगतिमान् यह भाव इसमें है। सत्यका भाव सच्चा, जो जैसा है। ' 'अस् भुवि' यह धातु इस पदमें है, जो है, जो अस्तित्ववान् है। अतः 'ऋत और सत्य' का मूल यौगिक भाव यह है कि '**प्रगति और अस्तित्व**'। मनुष्यको अपना अस्तित्व टिकाना चाहिये और मनुष्यको प्रगति भी करनी चाहिये। यह प्रगति सरल सत्य श्रेष्ठ मार्गसे होनी चाहिये। संपूर्ण विश्व ऋत और सत्यपर ठहरा और वह सतत गति कर रहा है। मनुष्यको यह देखना चाहिये और ये दो अटल नियम अपने जीवनमें ढालना चाहिये, उषादेवीके वर्णनमें भी यह आया है—

६१९।१ दिविजाः ऋतेन महिमानं आविष्कृण्वानाः आ अगात्।

"द्युलोकमें उत्पन्न हुई उषा ऋतसे अपनी महिमाको प्रकट करती हुई आगयी है।" उषा आती है, वह ऋतके साथ आती है। इसलिये वह आते ही ऋतके कारण वह प्रकाश फैला सकती है, और उसको देखते ही सब जगत्को अत्यंत आनंद होता है। जो ऋतवान् है, उससे इसी तरह जगतमें आनंद फैलता है। इसी तरह—

८१८ सत् च असत् च वचसी पस्पृधाते, तयोः यत् सत्यं, यतरत् ऋजीयः, तत् इत् सोमो अवति, हन्ति असत्।

"सत् और असत् भाषण परस्पर स्पर्धा करते हुए मनुष्यके पास आते हैं, उनमें एक सत्य और दूसरा असत्य होता है, सत्यमें भी एक सत्य है और दूसरा ऋजु है। इस सत्य और ऋजुका तो ईश्वर संरक्षण करता है और असत्यका तथा कुटिलका नाश करता है। अर्थात् ईश्वर सत्य और ऋतका संरक्षक है और असत्यका और कुटिलताका नाश करनेवाला है। यहाँ 'ऋत' के लिये 'ऋजीय, ऋजु' ये पद आये हैं। इनका अर्थ 'सरलता' है। इसके आगेके मंत्रमें और कहा है—

८१९ सोमः वृजिनं, मिथुया धारयन्तं क्षत्रियं, रक्षः असद्वदन्तं हन्ति।

'सोम कुटिलको, मिथ्या व्यवहार करनेवाले क्षत्रियको भी, जो असत्य बोलता है उसको विनष्ट कर देता है।' यहाँ असन् का अधिक स्पष्टीकरण है। '**वृजिन, मिथुया धारयन्, असत् वदन्**' 'कपटी, मिथ्या व्यवहारी और असत्य-भाषणी' इनका नाश होता है। इसलिये मनुष्य ऋत और सत्यका पालन करे। मनुष्यकी शुद्धि आचार व्यवहारमें दीखनी चाहिये। मन-वचन-कर्ममें मनुष्यको ऋत और सत्यका पालन करना चाहिये।

इस विषयमें वसिष्ठ ऋषिके देखे मंत्रोंमें बहुत उपदेश है, पर यहां संक्षेपसे ही देखना है। इसलिये यहां संक्षेपसे ही दिग्दर्शन किया है। इसी तरह आगे भी संक्षेपसे ही बतायेंगे—

अपनी पवित्रता

अपनी पवित्रता रखनेके विषयमें ऋषियोंके उपदेश स्पष्ट है। '**शौच-संतोष**' ये नियमोंमें प्रथम आ गये हैं। इनका अनुष्ठान इस तरह होता है—

४८ स शुचिदन् भूरिचित् अन्ना सद्यः समत्ति।

अग्निके वर्णनमें यह मन्त्रभाग है। 'वह शुद्ध दातवाला अग्नि तत्काल बहुत अन्न खाता है।' इस मन्त्रभागका '**शुचि-दन्**' यह पद महत्त्वपूर्ण है। देवताके दांत शुद्ध रहते हैं, वैसे उपासकके हों यह प्रेरणा यहां है। उपास्यके समान उपासकने बनना है। अथर्ववेदमें '**अ-शोणा दन्ताः**' (अ० का० १९।६०।१) दांत स्वच्छ रहने चाहिये। दात मलिन होनेसे शरीरमें नाना प्रकारके रोग उत्पन्न होते हैं। उनको दूर करनेके लिये यह प्रेरक वाक्य इस मंत्रमें है। सब दांतोंकी, मुख तथा जिह्वाकी स्वच्छता, तथा सब इंद्रियों और अवयवोंकी स्वच्छता इस तरह सूचित होती है।

चलनेका वेग

अथर्ववेदमें (१९।६०।१ में) कहा है कि '**जंघयो-र्जवः**' जंघाओंमें वेग हो। अर्थात् चलनेका वेग अच्छा होना चाहिये। मन्दगतिसे चलना उचित नहीं है। वही बात हम वसिष्ठके मंत्रोंमें देखते हैं।

३११ यज्ञं अभि प्रस्थात, त्मना यात, पत्मन् त्मना हिनोत ।

" यज्ञके स्थानपर वेगसे जाओ, शत्रुपर हमला वेगसे करो और मार्गपरसे भी वेगसे जाओ । ' मनुष्यमें वेग और उत्साह होना चाहिये । शिथिलता नहीं दीखनी चाहिये । चलना हो तो वेगसे चलो, शत्रुपर हमला करना हो तो वेगसे करो, यज्ञ-स्थानपर जाना हो तो भी वेगसे जाओ । वेग अपने जीवनमें रहे, सुस्ती नहीं चाहिये । वेगसे चलनेसे शरीर स्वस्थ रहता है यह यहां पाठक समझें । जो प्रतिदिन ४।५ मील चलते हैं वे स्वस्थ तथा दीर्घायु होते हैं ।

कामक्रोधादि अन्तः शत्रु

कामक्रोधादि अन्तःशत्रुओंका दमन करनेके लिये एक मंत्रमें वसिष्ठ ऋषिने कहा है, वह मंत्र देखिये—

८३८ उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातु-मुत कोकयातुम् । सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्रमृण रक्ष इन्द्र ॥

(कोकयातुं) कोकपक्षीके समान आचरण अर्थात् काम, (शुशुलूकयातुं) भेडियेके समान आचरण अर्थात् क्रोध, (गृध्रयातुं) गीधके समान आचरण अर्थात् लोभ, (उलूक-यातुं) उल्लूके समान आचरण अर्थात् मोह (सुपर्णयातुं) गरुडके समान आचरण अर्थात् गर्व, (श्वयातुं) कुत्तेके समान आचरण अर्थात् मत्सर ये छः अन्तःशत्रु हैं । इनका दमन करना चाहिये ।

' कोक ' पक्षी बडा कामी होता है, वह चीडिया जैसा है । भेडिया क्रोधके लिये प्रसिद्ध है । गीध लोभी है, स्वार्थ साधनके लिये प्रसिद्ध है, कथाओंमें इसका यही गुण लिखा है । उल्लूको अनाडी माना है, गरुड गर्वसे आकाशमें भ्रमण करता है, वह किसीकी पर्वा नहीं करता । और कुत्ता स्वजातियोंसे झगडता रहता है और अन्य जातियोंके संरक्षणके लिये दत्तचित्त रहता है । ये अन्तःशत्रु दमनसे शान्त करने चाहिये । इनको प्रबल होने नहीं देना चाहिये ।

६८० वरुणस्य हेळः नः परिवृज्याः

' वरुण देवका क्रोध हमें न कष्ट देवे । ' अर्थात् हमसे ऐसा दुराचरण कभी न होवे कि जिससे वरुणके क्रोधका आघात हमपर हो जाय । वरुण देव श्रेष्ठ प्रभु है । वह हमारे आचरणसे प्रसन्न चित्त हो जाय ऐसा उत्तम आचरण हमारा हो जाय ।

८३१ (१) यदि यातुधानः अस्मि, अद्य मुरीय ।
(२) यदि पुरुषस्य आयुः ततप, अद्य मुरीय ।
(३) यः मा मोघं यातुधान इत्याह, स दशभिः वीरैः वियूयाः ।

(१) यदि मैं सचमुच राक्षस हूं, तो मैं आज ही मर जाऊं तो अच्छा है, (२) यदि किसी मनुष्यकी आयुको मैंने कष्ट दिये हैं, तो भी मैं आज ही मर जाऊं तो अच्छा ही होगा । (३) पर यदि कोई दुष्ट मनुष्य निष्कारण राक्षस करके मेरी व्यर्थ निंदा करता है, तब तो वह दुष्ट अपने दसों वीर पुत्रोंके साथ नष्ट हो जाय ।

अर्थात् मैं किसीको कष्ट नहीं दूंगा और कोई मुझे कष्ट न दे । हम परस्पर सहकार्यसे मित्रभावसे रहेंगे और आनंद प्राप्त करेंगे । यह परस्पर सहकारका उद्देश्य इस मंत्रमें दीखता है और यही मनुष्यका ध्येय होना चाहिये । इसी तरह—

८३२ (१) यः मा अयातुं यातुधान इत्याह,
(२) यः रक्षः शुचिः अस्मि इत्याह,
(३) स अधमः पदीष्ट

" (१) मैं राक्षस नहीं हूं, तथापि जो मुझे राक्षस कहके निंदता है, (२) और जो स्वयं राक्षस होता हुआ भी अपने आपको पवित्र करके घोषित करता है, (३) वह अधम है, वह नीच अवस्थाको पहुंचे । "

किसीकी व्यर्थ निंदा नहीं करनी चाहिये, ऐसी निंदा करना बहुत बुरा है, ऐसा निंदक अधम कहलाता है और नीच अवस्थाको पहुंचता है । इसलिये कोई मनुष्य किसीकी निंदा न करे । निंदा करनेसे जिसकी वह निंदा करता है उसका कुछ भी बिगडता नहीं, पर उसकी वाणी प्रथम बिगड जाती है और पश्चात् मन बिगडता है और इस कारण उसकी अवस्था निकृष्ट बनती है, इसलिये निंदा करना किसीको भी योग्य नहीं है ।

समाजमें किसीको शोक न हो ऐसा प्रबंध होना चाहिये । इस विषयमें वसिष्ठका मन्त्र देखनेयोग्य है—

३१२ यत् द्रुग्धः इरज्यन्त, देवजामिः विवाचि घोषः अयामि ।

श्री. टी. रामकृष्णन् के तामिल भाषामें

अनुवाद किये ग्रंथोंकी सूची

(१) देवता परिचय ग्रंथमालामें

१ रुद्रदेवता परिचय।
२ ऋग्वेदमें रुद्रदेवता।
३ देवता विचार।

(२) आगम निबंधमालामें

४ वैदिक राज्यपद्धति।
५ वैदिक स्वराज्यकी महिमा।
६ मृत्युको दूर करनेका उपाय।
७ वेदमें चर्खा।
८ वेदमें रोगजन्तु शास्त्र (श्री तुलाराम कश्यपोंका भाष्य अथर्ववेदमें ३ सूक्त सहित)।
९ वेदमें लोहेके कारखाने।
१० वेदमें कृषि विद्या।
११ वेदमें जल विद्या (अथर्व वेदके जलसूक्त सहित)।

(३) यजुर्वेद भाष्य

१२ यजुर्वेद ३२ सर्वमेध यज्ञ
१३ ,, ३६ शांति करण
१४ ,, ४० ईशोपनिषद्
१५ आत्मशक्तिका विकास।

(४) अथर्ववेद सुबोध भाष्य

१ प्रथम कांड
२ द्वितीय कांड
३ तृतीय कांड
४ षष्ठ कांड
५ सप्तम कांड
६ दशम कांड
७ त्रयोदश कांड
८ चतुर्दश कांड
९ पंचदश कांड
१० षोडश कांड
११ सप्तदश कांड

(५) ऋग्वेदका सुबोध भाष्य

१२ सवनन ऋषिका दर्शन
१३ हिरण्यगर्भ ऋषिका दर्शन

इसके अलावा स्वतन्त्र वैदिक धर्म व्याख्यानकी पुस्तक भी लिखा हू।

आपकी सेवामें
टि रामकृष्णन्
म्युनिसिपल कौन्सीलर एन् पुडर
कारैकुडी (दक्षिण भारत)

ये सब ग्रन्थ अतिशीघ्र प्रकाशित हों और तामिल वाचकोंको मिलें ऐसा हम सब चाहते हैं। कोई धनी पुरुष इस प्रकाशनके लिये धनकी सहायता दें।

प श्री दा सातवळेकर,
अध्यक्ष- स्वाध्याय मंडळ किल्ला-पारडी (जि सूरत)